जैन दर्शन में ज्ञान का स्वरूप

राजस्थान विश्वविद्यालय की
पी-एच.डी. उपाधि हेतु
प्रस्तुत शोध प्रबन्ध
1987

निर्देशक
डॉ० नन्द किशोर शर्मा
एसोसिएट प्रोफेसर,
दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

प्रस्तुत कर्त्री
राज कुमारी जैन

प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि सुश्री राज कुमारी जैन ने प्रस्तुत शोध प्रबन्ध " जैन दर्शन में ज्ञान का स्वरूप " मेरे निर्देशन में लिखा है । इनका यह कार्य मौलिक है तथा पीएच. डी. स्तर का है । मैं इस शोध प्रबन्ध को परीक्षार्थ प्रस्तुत करने की अनुमति देता हूँ ।

कुमारी जैन ने वर्ष में 100 दिन से अधिक मेरे पास आकर निर्देशन लिया है ।

निर्देशक,

(डा. नन्द किशोर शर्मा)
एसोसिएट प्रोफेसर,
दर्शन विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर ।

===

विषय सूची

- प्रस्तावना -

जैन दर्शन एक बहुत जटिल और समृद्ध दर्शन है । यह एक वस्तुवादी तथा बहुत्ववादी दर्शन है तथा इसमें लगभग सभी प्रमुख दार्शनिक समस्याओं पर बहुत महत्वपूर्ण और मौलिक सिद्धांत प्रस्तुत किये गये हैं । इस दर्शन पर अभी तक जो शोधकार्य हुआ है वह या तो शास्त्रीय कथनों का संकलन मात्र है अथवा प्रमुख जैन दार्शनिक सिद्धांतों - द्रव्य का स्वरूप, अनेकान्त, स्याद्वाद आदि की बहुत ही स्थूल व्याख्या है तथा अभी तक ये सिद्धांत पूरी स्पष्टता से प्रकाश में नहीं आ पाये हैं । उदाहरण के लिये अभी तक लिखी गयी पुस्तकों में अनेकान्तवाद की, " एक ही वस्तु में सत्-असत्, एक-अनेक , नित्य-अनित्य आदि सप्रतिपक्षी धर्म युगलों का युगपत् सद्भाव" रूप विशेषता ही सामने आ पायी है लेकिन अभी तक इसके पर्यायवाची शब्द "जात्यन्तर स्वरूप", जो अनेकान्तवाद की विशेषता "भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से इन धर्मों का परस्पर सापेक्ष निरपेक्ष स्वरूप", का विशेष रूप से प्रतिनिधित्व करता है, का स्पष्ट प्रतिपादन करने वाला कथन (आप्त परीक्षा, पृष्ठ- 89) तथा इसका विश्लेषण सामने नहीं आ पाया । इसके सामने नहीं आने के कारण इन प्रश्नों पर भी विचार नहीं किया जा सका कि वाक्य में वस्तु के अनेकान्तात्मक स्वरूप के द्योतक स्यात् पद की आवश्यकता क्यों होती है तथा नय की परिभाषा "प्रमाण से गृहीत अनेकान्तात्मक अर्थ के एक विशेष अंश का ज्ञान नय है" में "प्रमाण से गृहीत अनेकान्तात्मक अर्थ" अंश की क्या उपादेयता है । इसके अतिरिक्त ज्ञान के तत्वमीमांसीय पक्ष के प्रति जैन दृष्टिकोण की कुछ जानकारी हमें उपलब्ध है लेकिन इसका सम्प्रत्ययात्मक पक्ष बिल्कुल भी प्रकाश में नहीं आया है । इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए डॉ. नन्द किशोर शर्मा (एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर) ने जैन दर्शन में शोध कार्य की आवश्यकता महसूस की तथा मुझमें जैन दर्शन के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करने के साथ ही साथ इसमें शोध कार्य करने के लिये प्रेरणा प्रदान की ।

सन् 1977 में राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा एम.ए. दर्शन शास्त्र के पाठ्यक्रम में दो ऐच्छिक पत्रों - जैन तत्वमीमांसा और जैन ज्ञान मीमांसा का प्रावधान किया गया था । डॉ. शर्मा ने इस शोध कार्य का आधार तैयार करने हेतु मुझे ये दोनों पत्र दिलवाये तथा उन्होंने स्वयं ने " जैन ज्ञानमीमांसा" पत्र का अध्यापन किया । इस काल में उन्होंने प्रमाण, नय, अवग्रहादि किसी भी विषय को पढ़ाते समय अनेक प्रश्न मेरे समक्ष रखे तथा इस प्रकार इस दर्शन के प्रति तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न करने के साथ ही साथ निरन्तर यह कहकर कि जैन दर्शन में कोई अच्छा शोध कार्य नहीं हुआ है, तुम्हें इसमें अनुसन्धान करना है, मुझमें इस विषय पर शोध कार्य करने के लिये दृढ इच्छा शक्ति उत्पन्न की । शोध कार्य करते हुए भी संस्कृत भाषा पर पूर्ण नियंत्रण का अभाव, जैन दार्शनिक ग्रन्थों की जटिलता आदि अनेक समस्याओं के कारण अनेक बार मैने स्वयं को इस शोध कार्य को पूर्ण करने में असमर्थ महसूस किया लेकिन उनके सतत प्रोत्साहन और निर्देशन के कारण यह शोध कार्य सम्पन्न हो सका है ।

इस शोध प्रबन्ध " जैन दर्शन में ज्ञान का स्वरूप " में ज्ञान के तत्व-मीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय और सम्प्रत्ययात्मक पक्षों से संबंधित कुछ प्रमुख दार्शनिक समस्याओं पर जैन सिद्धांतों को प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है । यद्यपि इस शोध प्रबन्ध में परम्परागत भारतीय दर्शनों द्वारा ज्ञान के स्वरूप के प्रति जिन समस्याओं पर विचार किया गया है उन्हीं के परिप्रेक्ष्य में जैन सिद्धांतों को समझने की चेष्ठा की गयी है लेकिन इस प्रयास में पाश्चात्य दर्शन का अध्ययन एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है तथा यह शोध प्रबन्ध समसामयिक विचारकों द्वारा ज्ञान के स्वरूप के प्रति जिन नवीन समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है उनके परिप्रेक्ष्य में जैन सिद्धांतों के नवीन पक्षों को उद्घाटित करने के लिये महत्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करता है ।

इस शोध प्रबन्ध में जिन प्रश्नों पर विचार किया गया है उनमें से कुछ प्रमुख प्रश्न हैं - " ज्ञान " शब्द का अर्थ क्या है अथवा किन विशेषताओं से युक्त पदार्थ को ज्ञान कहा जाता है, यह किस प्रकार की सत्ता है तथा इसकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? ज्ञान के तत्वमीमांसीय स्वरूप के संबंध में जैन आचार्यों का कहना है कि ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण अर्थात् उसका शाश्वत स्वरूप है । ज्ञान के आत्मा का गुण होने का अर्थ है कि आत्मा मे स्वाभाविक विषय ग्रहण सामर्थ्य है तथा वह उपयोगमय है । उपयोग शब्द के अर्थ में दो विशेषताएं निहित हैं - विषय को जानने के लिये प्रवृत्ति तथा विषय को जानने की क्रिया । आत्मा अपनी इन दो प्राकृतिक विशेषताओं - स्वाभाविक ज्ञान शक्ति तथा उपयोगमय स्वभाव के कारण ही किसी विषय को जान सकता है, सदैव किसी न किसी विषय को जानता रहता है तथा किसी भी क्षण ज्ञान रहित नहीं होता ।

न्याय वैशेषिक दर्शन में ज्ञान को आत्मा का आगन्तुक गुण माना गया है । इस दर्शन के अनुसार निष्क्रिय आत्मा में पदार्थ का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का मन से तथा मन का आत्मा से संयोग होने पर विषयबोध उत्पन्न होता है । जैन दार्शनिक इससे विपरीत प्रक्रिया द्वारा ज्ञानोत्पत्ति स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार निष्क्रिय आत्मा में बाह्य पदार्थों का संयोग ज्ञानोत्पत्ति नहीं करता अपितु ज्ञाता जब जिस इन्द्रिय का अवलम्बन लेकर जिस विषय को जानने के लिये प्रवृत्त होता है तब अपनी सामर्थ्य के अनुसार वह उस विषय को जानता है । वास्तव में ज्ञान आत्मा की आगन्तुक विशेषता न होकर अज्ञान आत्मा के लिये आगन्तुक है । यह ज्ञानावरणीय कर्मों का कार्य है तथा वह इन कर्मों का नाश होने के साथ ही साथ नष्ट होता जाता है ।

पाश्चात्य दर्शन में यह समस्या भिन्न प्रकार से उठायी गयी है । वहाँ यह प्रश्न बहुत विवादास्पद रहा है कि ज्ञान आनुभविक होता है अथवा जन्मजात । इसे व्यक्ति अपने प्रयत्नों से अर्जित करता है अथवा यह उसमें सहज रूप से विद्यमान होता है । प्रथम विकल्प को अनुभववाद कहा गया है तथा इसकी चरम परिणति संशयवाद में हुई है । द्वितीय विकल्प बुद्धिवाद कहलाता है तथा इसका अन्त नियतिवाद के रूप में हुआ है । कांट ने इन दोनों सिद्धांतों के समन्वय पूर्वक ज्ञान की व्याख्या करने का प्रयास किया । उसके अनुसार समस्त ज्ञान आनुभविक ही होता है । कभी किसी प्रागानुभविक ज्ञान की सत्ता नहीं हो सकती । लेकिन इन्द्रिय प्रदत्त सम्वेदनाएं मात्र ज्ञान नहीं है ; इन सम्वेदनाओं के बुद्धि की कोटियों द्रव्य, गुणादि में व्यवस्थित होने पर विषय ज्ञात होता है । बुद्धि की ये कोटियाँ प्रागानुभविक तथा व्यक्तिनिष्ठ होती हैं । इस प्रकार ज्ञान आनुभविक सम्वेदनाओं तथा प्रागानुभविक सम्प्रत्ययों (बुद्धि की कोटियों) के सम्मिश्रण से उत्पन्न होता है ।

यदि हम इस विवाद के सन्दर्भ में जैन दर्शन के ज्ञान सम्बन्धी मत पर दृष्टिपात करें तो ऊपरी तौर पर हमें यह दर्शन बुद्धिवाद, विशेष रूप से लाइवनीज की मान्यता के निकट लगता है । लाइवनीज के अनुसार प्रत्येक चेतन तत्व अपने आप में परिपूर्ण है । उसमें समस्त वस्तुओं का ज्ञान सदा से संचित है । जब भी वह किसी पदार्थ को जानता है तो उसमें पहले से विद्यमान ज्ञान ही प्रकट होता है तथा उसमें कभी किसी नवीन पदार्थ के ज्ञान, जो उसमें पहले विद्यमान नहीं था, की उत्पत्ति नहीं हो सकती । जैन दार्शनिक भी ज्ञान को स्वाभाविक तथा स्वभावतः जीव को सर्वज्ञ स्वीकार करते हैं लेकिन इनका सिद्धांत लाइवनीज से बिल्कुल भी सादृश्य नहीं रखता क्योंकि जैन दार्शनिक आत्मा में विषय बोध की उत्पत्ति उसके उपयोगात्मक स्वभाव अर्थात विषय को जानने के लिये प्रवृत्ति रूप स्वभाव के कारण मानते हैं । इसकी तुलना कांट के दर्शन से की जा सकती है । जैन

दार्शनिकों के अनुसार भी समस्त ज्ञान आनुभविक ही होता है । आत्मा में ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं होता जो उसमें सदा से विद्यमान हो तथा जिसके अर्जन के लिये वह कभी प्रवृत्त नहीं हुआ हो । जैन दार्शनिक ज्ञान को आनुभविक मानते समय उसे इन्द्रियानुभव तक ही सीमित नहीं मानते और न ही इसकी उत्पत्ति इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष मात्र से स्वीकार करते हैं अपितु उनके अनुसार अनुभव पूर्वक ज्ञानोत्पत्ति प्रागानुभविक ज्ञान शक्ति के विद्यमान होने पर तथा जीव के स्वाभाविक उपयोगमय स्वभाव के कारण ही होती है । प्रागानुभविक ज्ञान शक्ति के सद्भाव में विषय को जानने के लिये किये गये प्रयत्न विषय बोध उत्पन्न करते हैं ।

यहाँ कांट और जैन दर्शन में एक मूलभूत अंतर है । दोनों के ही अनुसार ज्ञान सम्प्रत्ययात्मक होता है । लेकिन कांट के अनुसार सम्प्रत्यय प्रागानुभविक तथा व्यक्तिनिष्ठ होते हैं जबकि जैन दार्शनिकों के अनुसार व्यक्ति की ज्ञान सामर्थ्य प्रागानुभविक होती है तथा सम्प्रत्यय आनुभविक तथा वस्तुनिष्ठ होते हैं । यह विवाद " सम्प्रत्यय व्यक्तिनिष्ठ होते हैं अथवा वस्तुनिष्ठ ; भारतीय दर्शन में भी बहुत प्रखर रूप से विद्यमान है तथा यह विवाद एक अन्य जटिल प्रश्न उत्पन्न करता है कि ज्ञान का जो स्वरूप हमारे अनुभव में आ रहा है वह जगत् के यथार्थ स्वरूप का प्रकाशक है ? अथवा भ्रामक। सम्प्रत्ययों को व्यक्तिनिष्ठ तथा प्रागानुभविक स्वीकार करने की आवश्यकता क्यों महसूस की गयी तथा इस मान्यता के निष्कर्ष क्या हैं, इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व हम ज्ञान के सभी व्यक्तियों को अनुभव होने वाले स्वरूप पर विचार करें । किसी भी पदार्थ के प्रति यह निश्चय कि वह क्या है, किस प्रकार की है, ज्ञान कहलाता है । दूसरे शब्दों में किसी पदार्थ के स्वरूप का निश्चय ज्ञान है । किसी वस्तु के स्वरूप को जानने का अर्थ है विजातीय वस्तुओं से भेद पूर्वक वस्तु के विशिष्ट स्वरूप को ग्रहण करना । किसी पदार्थ का विशिष्ट स्वरूप उसके अवयव, गुणादि

विशेषताओं से निर्मित होता है इसलिये इन विशेषताओं के ज्ञान पूर्वक ही वस्तु का विशिष्ट स्वरूप ज्ञात होता है । उदाहरण के लिये तना, शाखाओं, पत्तों आदि को जानकर ही हम यह जानते हैं कि यह वृक्ष है । यह निश्चय उसी व्यक्ति को हो सकता है जिसमें वृक्ष का सम्प्रत्यय बन चुका हो। वृक्ष का सम्प्रत्यय निर्मित होने का अर्थ है वृक्ष मात्र के सामान्य स्वरूप का ज्ञान होना - उन विशेषताओं का ज्ञान होना जिनके होने पर ही किसी पदार्थ को वृक्ष कहा जाता है तथा जो किसी अवृक्ष में नहीं पायी जातीं । वृक्ष की ऐसी विशेषताएं वृक्ष मात्र में समान रूप से पायी जाने के कारण उसका सामान्य स्वरूप हैं ; ये ही वृक्ष की अवृक्ष से विलक्षणता स्थापित करती हैं इसलिये उसका विशेष स्वरूप भी हैं । पदार्थ , जैसे - वृक्ष को "द्रव्य" तथा उसके विशेष धर्म, जैसे- तना, शाखा आदि को "पर्याय" कहा जाता है । इस प्रकार ज्ञान सदैव सम्प्रत्ययात्मक होता है तथा इसका विषय सामान्य-विशेषात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थ होता है ।

काँट ज्ञान के इस सम्प्रत्ययात्मक स्वरूप के कारण उसे संवृति सत्य कहता है तथा उसके अनुसार जगत का पारमार्थिक स्वरूप अज्ञात और अज्ञेय है । उसका कहना है कि ज्ञान में सार्वभौमिकता होती है । यद्यपि ज्ञान आनुभविक ही होता है लेकिन इन्द्रियानुभव मात्र से ज्ञान में सार्वभौमिकता उत्पन्न नहीं हो सकती क्योंकि इन्द्रियों द्वारा पदार्थ की विशेष देशकाल में व्यवस्थित सम्वेदनाएँ ही प्राप्त की जा सकती हैं ; इनके द्वारा न तो उन सम्वेदनाओं पर सामान्याकार का आरोपण कर पदार्थ का निश्चय किया जा सकता है और न ही उसके सार्वभौमिक स्वरूप को जाना जा सकता है । यह कार्य तो बुद्धि द्वारा ही किया जा सकता है जो तभी सम्भव है जबकि बुद्धि के पास सामान्याकार या सम्प्रत्यय प्रागानुभविक रूप से विद्यमान हों । व्यक्ति को इन्द्रियों से सम्पर्क पूर्वक बाहरी जगत की जो भी सम्वेदनाएं प्राप्त होती हैं वे अपने आप में अर्थहीन हैं । उन

सम्वेदनाओं के द्रव्य, गुणादि व्यक्तिनिष्ठ बौद्धिक कोटियों में व्यवस्थित होने पर विषय ज्ञात होता है । द्रव्य, गुणादि की सत्ता बाह्य जगत मे न होकर व्यक्ति में है तथा व्यक्ति को विषय इन बौद्धिक आकारों के आरोपण पूर्वक ही ज्ञात होता है । इसलिये व्यक्ति के लिये पदार्थ का इन आरोपित आकार से रहित शुद्ध स्वरूप अज्ञात और अज्ञेय है ।

सम्प्रत्ययात्मक ज्ञान की भ्रामकता को सिद्ध करने के लिये कांट के समान तर्क बौद्ध तथा अद्वैत वेदान्त जैसे भारतीय दर्शनों द्वारा भी दिया गया है लेकिन कांट का सिद्धांत पूर्ण रूपेण ज्ञानमीमांसीय चिन्तन पर आधारित है । इसके विपरीत भारतीय दार्शनिकों द्वारा यह सिद्धांत मूलतः अपनी तत्वमीमांसीय पूर्व मान्यताओं के कारण स्वीकार किया गया है । इसका कारण यह है कि जब भी किसी तत्वमीमांसीय सिद्धांत का प्रतिपादन किया जाता है तब यह प्रश्न उठता है कि इसका प्रमाण क्या है ; क्योंकि ज्ञान ही हमें यह बता सकता है कि वस्तुस्थिति किस प्रकार की है तथा ज्ञान के वस्तुनिष्ठ होने के कारण एक व्यक्ति जिस प्रकार से किसी वस्तु को जानता है उसी प्रकार से उसे अन्य व्यक्ति भी जान सकते हैं । अतः यदि व्यक्ति अपने सिद्धान्त का प्रमाण नहीं बता सकें तो उसका सिद्धान्त कल्पना मात्र ही सिद्ध होगा, यथार्थपरक नहीं ।

क्षणिकवाद, विज्ञानवाद, अद्वैतवाद जैसे दार्शनिक सिद्धान्तों को हमारे सामान्य अनुभवों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता । उनसे तो वस्तुवाद और बहुत्ववाद ही सिद्ध होते हैं । इसलिये बौद्ध, अद्वैत वेदांती जैसे भारतीय दार्शनिक ज्ञान के सविकल्पक स्वरूप को भ्रामक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं तथा ज्ञान का वास्तविक स्वरूप निर्विकल्पक मानकर अपने तत्वमीमांसीय सिद्धान्तों को उन पर आधारित मानते हैं । दिग्नाग कहते हैं कि नाम, जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया ये वस्तुगत कोटियाँ न होकर

बुद्धि की कोटियाँ हैं तथा ये अनादि वासना जनित हैं । इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के प्रथम क्षण में विषय निर्विकल्पक रूप से ज्ञात होता है ; तत्पश्चात उस पर बुद्धि द्वारा नाम, जात्यादि कोटियों के आरोपण पूर्वक सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति होती है । यह ज्ञान बौद्धिक संरचना मात्र होने के कारण यथार्थ न होकर भ्रामक है तथा विषय का यथार्थ स्वरूप निर्विकल्पक ज्ञान द्वारा ही ज्ञात होता है । इसी आधार पर अद्वैत वेदान्ती भी सविकल्पक ज्ञान को मिथ्या तथा निर्विकल्पक ज्ञान को यथार्थ स्वीकार करते हैं । सविकल्पक ज्ञान को बौद्धिक संरचना सिद्ध करने के साथ ही साथ वे इसकी भ्रामकता की सिद्धि के लिये जो अन्य युक्ति प्रस्तुत करते हैं वह है " सविकल्पक ज्ञान विरोध-दोष से युक्त है ।" नागार्जुन कहते हैं कि जैसे ही हम तत्व को विकल्पों के माध्यम से समझना चाहते हैं तो एक विकल्प को उस पर लागू करते ही उसका विरोधी विकल्प भी आ जाता है । यदि हम उसे सत् कहते हैं तो उसकी असत्ता का भी बोध होता है क्योंकि वह सर्वत्र सत् नहीं है ; यदि हम उसे असत् कहते हैं तो वह कुछ तो है ही । हम उसे सत्-असत् उभय रूप नहीं कह सकते क्योंकि ये दोनों परस्पर विरोधी हैं । " यह सत्-असत् दोनों ही नहीं है " यह भी नहीं कहा जा सकता । इसलिये वह चतुष्कोटि विनिर्मुक्त है । बुद्धि एक-अनेक, सामान्य-विशेष आदि विरोधी विकल्पों को लिये हुए ही कार्य करती है तथा तत्व में विरोधी धर्मों की सत्ता नहीं हो सकती । अतः वह विकल्पातीत है तथा बुद्धि से परे निर्विकल्पक ज्ञान द्वारा ही यथार्थतः जाना जाता है । निर्विकल्पक ज्ञान इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के प्रथम क्षण की तथा योगज प्रत्यक्ष की स्थिति है जो विषय को उसके पारमार्थिक स्वरूप में जानता है ।

इस शोध प्रबन्ध के तृतीय तथा चतुर्थ अध्याय में सभी तत्वमीमांसीय पूर्वमान्यताओं से ऊपर उठकर उपर्युक्त मान्यता की आलोचना करते हुए इस

जैन सिद्धांत को प्रस्तुत किया गया है कि ज्ञान सदैव सविकल्पक - सम्प्रत्ययात्मक तथा निश्चयात्मक ही होता है तथा इसका विषय सामान्यविशेषात्मक, द्रव्य-पर्यायात्मक पदार्थ ही होता है । ज्ञान कभी निर्विकल्पक-सम्प्रत्यय रहित तथा निश्चय रहित हो ही नहीं सकता । ज्ञान का विषय ब्रह्म हो अथवा क्षणिक निरंश पदार्थ अथवा अन्य कुछ वह सम्प्रत्ययात्मक तथा सामान्यविशेषात्मक रूप से ही ज्ञात हो सकता है । जो भी सत् है वह एक निश्चित विशिष्ट स्वरूप से युक्त होकर ही अस्तित्व रख सकता है तथा उसका वह रूप अन्य रूपों के अभाव पूर्वक ही हो सकता है । उसके स्वरूप का बोध " इसका यही रूप है, अन्य नहीं, " " यह क्षणिक ही है, नित्य नहीं" आकार में ही हो सकता है । इस आकार में यह निहित है, भले ही वह पदार्थ एक अद्वैत सर्वव्यापक ब्रह्म हो जिससे विलक्षण किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं हो अथवा परस्पर पूर्णरूपेण विलक्षण अनेक क्षणिक पदार्थ, कि यदि इस पदार्थ के सदृश कोई अन्य पदार्थ होगा तो उसका ज्ञान भी इसी आकार से युक्त होगा तथा यदि इससे विलक्षण कोई पदार्थ हो तो उसका ज्ञान इससे भिन्न होगा । इस प्रकार तत्वमीमांसीय स्थिति कुछ भी हो ज्ञान सम्प्रत्ययात्मक ही हो सकता है तथा उसका विषय सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ ही हो सकता है । जिसे निर्विकल्पक ज्ञान कहा जाता है वह यदि वास्तव में ज्ञान है तो सभी व्यक्तियों के निर्विकल्पक ज्ञान में एकरूपता होनी चाहिये । इसके विपरीत बौद्ध इसके द्वारा सत्ता के निरंश क्षणिक रूप को, अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म को तथा न्याय वैशेषिक पृथक् पृथक् विशेषण विशेष्य को ज्ञात मानते हैं जो यह सिद्ध करता है कि यह ज्ञान एक कल्पना मात्र है ।

इस प्रश्न के उत्तर में कि जब तक वस्तु का निर्विकल्पक रूप से ग्रहण नहीं हो विकल्प योजना किस प्रकार सम्भव है, क्योंकि विकल्प योजना

इन्द्रियों द्वारा न होकर इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय बन रहे पदार्थ के सदृश पदार्थ की स्मृति पूर्वक होती है; जैन दर्शन का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण है । जैन दार्शनिकों के अनुसार इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा पृथक् पृथक् सत्ता नहीं है और न ही वे ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया में दो पृथक् पृथक् चरण-प्रारम्भ में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष पूर्वक पदार्थ की सम्वेदनाएं प्राप्त होना, तत्पश्चात बुद्धि द्वारा सम्प्रत्ययों की योजना पूर्वक विषय बोध, स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार स्वयं इन्द्रिय रूप से परिणत आत्मा जड़ इन्द्रियों का अवलम्बन लेकर विषय को जानती है इसलिये उसे इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा प्रारम्भ से ही विषय अपने विशिष्ट स्वरूप में ज्ञात होता है । यद्यपि इसके द्वारा विषय का वैशिष्ट्य क्रमिक रूप से स्पष्ट और अधिक स्पष्ट होता है तथा विषय के अधिक विशिष्ट स्वरूप का ज्ञान कम विशिष्ट स्वरूप के ज्ञान पूर्वक होता है लेकिन एक पूर्णरूपेण निश्चय रहित स्थिति को निश्चयात्मक ज्ञान की उत्पत्ति का कारण नहीं माना जा सकता । यदि विकल्प योजना को वस्तु के निर्विकल्पकबोध पूर्वक ही स्वीकार किया जाय तो यह सम्भव नहीं हो सकता । सदृश पदार्थ की स्मृति प्रत्यक्ष के विषयभूत पदार्थ के निश्चयात्मक बोध पूर्वक ही सम्भव हो सकती है तथा एक पूर्णरूपेण निश्चयरहित प्रत्यक्ष इस बात का निश्चायक नहीं हो सकता कि इसी विकल्प विशेष का उदय हो, अन्य का नहीं । जो सफेद रंग, विशेष आकार आदि का निश्चय कर रहा है उसे ही तत्सदृश पदार्थ की स्मृति " इन विशेषताओं से युक्त पदार्थ को कागज कहा गया था " पूर्वक यह निश्चय होता है कि यह कागज है ।

जैन दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान स्वपर-प्रकाशक होता है । यह विषय प्रकाशन रूप होता है तथा इसके द्वारा विषय प्रकाशन स्वयं के विषय प्रकाशन रूप स्वरूप को जानते हुए ही होता है । यह तर्क कि सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति तभी हो सकती है जबकि सम्प्रत्यय हमारे पास पहले से विद्यमान हों

तथा विषय का साक्षात्कार होने पर उस पर इन्हें आरोपित किया जाय, ज्ञान को विषय प्रकाशक सिद्ध न कर विषय संघटक तथा संवृति सत्य सिद्ध करता है । जैन दार्शनिक इस तर्क को स्वीकार नहीं करते, न ही वे इस तर्क के मूल में विद्यमान धारणा - सम्प्रत्ययों की व्यक्ति निष्ठता तथा प्रागानुभविकता को स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार सम्प्रत्यय आनुभविक तथा वस्तुनिष्ठ होते हैं । किसी भी वस्तु का सम्प्रत्यय व्यक्ति में उस वस्तु के सामान्यविशेषात्मक स्वरूप को ग्रहण करने की क्षमता विद्यमान होने पर ही निर्मित हो सकता है तथा यह सम्भव है कि प्रथम इन्द्रिय प्रत्यक्ष में ही सम्प्रत्यय का निर्माण तथा वस्तु के विशिष्ट स्वरूप का ग्रहण दोनों कार्य एक साथ हो जायं । जैसे स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा किये गये प्रथम प्रत्यक्ष में ही व्यक्ति को अग्नि के उष्ण स्वरूप का ग्रहण तथा इस सम्प्रत्यय का निर्माण कि " इस प्रकार का पदार्थ उष्ण होता है" ये दोनों कार्य एक साथ घटित होते हैं ।

यदि इन्द्रियों से विषय का साक्षात्कार मात्र तथा बुद्धि द्वारा उस साक्षात्कारात्मक अनुभूति पर सम्प्रत्ययों के आरोपण पूर्वक सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति स्वीकार की जाय तो कभी किसी ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती क्योंकि अनुभवातीत रूप से हमें कभी कोई सम्प्रत्यय प्राप्त ही नहीं हो सकता।उष्णता का सम्प्रत्यय उष्ण पदार्थ के स्पर्श पूर्वक ही प्राप्त होता है, अनुभवातीत रूप से नहीं ।

सम्प्रत्ययों की उत्पत्ति और विकास निरंतर हो रहे विषयबोध पूर्वक ही होता है । हमारा समस्त पूर्ववर्ती ज्ञान अधिक विकसित नवीन ज्ञान, वह शब्द प्रमाण द्वारा प्राप्त हो अथवा इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा, की उत्पत्ति के लिये आधार प्रस्तुत करता है ; इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट रूप से पंचम अध्याय में मतिश्रुत ज्ञान के स्वरूप का विवेचन करते हुए

प्रतिपादित किया गया है । श्रुतज्ञान के स्वरूप पर विचार करते हुए यह बताया गया है कि ग्रन्थ अथवा वक्ता के कथनों के अभिप्राय की समझ की उत्पत्ति में व्यक्ति के तद्विषयक समस्त पूर्ववर्ती अनुभव, अध्ययन और चिन्तन का महत्वपूर्ण योगदान होता है । शब्द प्रमाण के द्वारा किसी विषय को कितनी अधिक स्पष्टता के साथ समझा जा सकता है यह इस बात के साथ ही साथ कि आप्त पुरूष के वचन विषय का कितनी स्पष्टता से प्रतिपादन कर रहे हैं इस बात पर भी निर्भर करता है कि व्यक्ति का तद्विषयकअनुभव, अध्ययन और चिन्तन कितना व्यापक है । आनुभविक ज्ञान के निम्नतम प्रकार से लेकर श्रेष्ठतम प्रकार की उत्पत्ति में अन्य समस्त कारणों के सद्भाव के साथ ही साथ व्यक्ति के ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की न्युनाधिकता से उत्पन्न ज्ञान क्षमता एक अनिवार्य कारण है क्योंकि किसी भी पदार्थ के सम्प्रत्यय का निर्माण तथा उसके सामान्यविशेषात्मक स्वरूप का ग्रहण इस क्षमता के सद्भाव में तथा इस क्षमता के विकास की मात्रा के अनुसार ही हो सकता है ।

विज्ञानवादी बौद्ध सविकल्पक ज्ञान की व्यक्तिनिष्ठता की सिद्धि के लिये उसे बौद्धिक सरचना सिद्ध करने के साथ ही साथ एक अन्य तर्क यह देते हैं कि ज्ञान स्वसंवेदी होता है । यह सदैव अपने में बन रहे आकारों को जानता है तथा कभी भी अपने से भिन्न किसी पदार्थ को नहीं जान सकता ; अतः ज्ञान को विषय प्रकाशक नहीं कहा जा सकता । जैन दार्शनिक कहते हैं कि ज्ञान ही हमें यह बता सकता है कि वह मात्र स्वयं को ही जानता है अथवा पर को जानते हुए ही स्वयं को जानता है । इस विवाद के निराकरण का ज्ञान के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है । ज्ञान हमें यह बताता है कि वह मात्र अपने में बन रहे आकार को नहीं जानता अपितु अपने से भिन्न देशकाल मे स्थित, अपने से भिन्न स्वरूप में स्थित, अपने से भिन्न पदार्थ को जानता है । इस प्रकार ज्ञान स्वयं के स्वरूप को

वस्तुनिष्ठ तथा विषय प्रकाशक रूप से ही प्रकाशित करता है तथा इसकी भ्रामकता की सिद्धि भी ज्ञान को विषय प्रकाशक स्वीकार करने पर ही हो सकती है ।

यदि ज्ञान वस्तुनिष्ठ तथा विषय प्रकाशक है तो फिर कई बार उसकी अयथार्थता का बोध क्यों होता है तथा किसी ज्ञान की यथार्थता अयथार्थता का निश्चय किस प्रकार किया जा सकता है इस समस्या पर अंतिम अध्याय में विचार किया गया है । ज्ञान की वस्तु-निष्ठता तथा विषय प्रकाशकता के सम्बन्ध में और भी कई महत्वपूर्ण दार्शनिक समस्याएं हैं जिन पर इस शोध प्रबन्ध में विचार नहीं किया जा सका है लेकिन यह शोध प्रबन्ध उन समस्याओं के जैन दृष्टिकोण से समाधान के लिये एक श्रेष्ठ आधार प्रस्तुत करता है ।

इस शोध प्रबन्ध में जैन सिद्धान्तों के इस रूप में प्रस्तुतीकरण में डॉ: दया कृष्ण के सानिध्य तथा उनके द्वारा दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय में निर्मित बहुत ही जीवन्त तथा विचारोत्तेजक वातावरण का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान है । किसी विषय पर शोध कार्य करने की आवश्यकता इसलिये होती है कि वह विषय अभी तक अज्ञात है तथा उसे प्रकाश में लाना है । विषय के अज्ञात होने के कारण शोधार्थी के समक्ष जो समस्याएं आती हैं उनका समाधान उसे स्वयं ही करना होता है । भारतीय दर्शन पर शोध कार्य करते समय यह समस्या और भी गंभीर हो जाती है क्योंकि हम इसकी विषयवस्तु से ही अपरिचित नहीं हैं बल्कि इसमें जिस विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग किया गया है उनके अर्थों से भी अनभिज्ञ हैं । भारतीय दार्शनिक ग्रन्थ, विशेष रूप से न्याय विनिश्चय, सिद्धि विनिश्चय तथा उनकी टीकाओं जैसे जटिल ग्रन्थ एक सामान्य पाठक के समक्ष अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादनार्थ नहीं लिखे गये

है अपितु इन ग्रन्थों की रचना अपने प्रतिपक्षियों से वादविवाद के क्रम में की गयी है । इसलिये इनमें किसीपद के अर्थ का स्पष्टीकरण, उसके प्रयोग की उपादेयता आदि का वर्णन न करके पद के अर्थ के उसी अंश को स्पष्ट किया गया है जिसमें उनका अपने विरोधी दर्शनों से मतभेद है । अतः भारतीय दर्शन के मूल ग्रन्थों के अध्येता के समक्ष सर्व प्रथम यह समस्या उत्पन्न होती है कि वह इनमें प्रयुक्त विशिष्ट शब्दावली के अर्थों को खोजे । मैंने जब अध्ययन प्रारम्भ किया तो जिस समस्या ने मुझे सर्वाधिक परेशान किया वह थी - सामान्य, विशेष, द्रव्य और पर्याय पदों के अर्थ क्या हैं ? भारतीय दर्शन पर उपलब्ध पुस्तकों से सामान्य और विशेष पदों का जो अर्थ स्पष्ट हुआ था वह था कि अनुगत प्रतीति और अनुगत शब्द के प्रयोग के आधार को सामान्य तथा व्यावृत प्रतीति तथा भिन्न शब्द के प्रयोग के आधार को विशेष कहा जाता है । सामान्य और विशेष पदों के ये अर्थ मेरे समक्ष यह समस्या उत्पन्न कर रहे थे कि जब हम एक पदार्थ को जानते हैं तो उस समय ज्ञान में किसी अन्य पदार्थ का उल्लेख ही नहीं होता ; तब विषय सामान्य-विशेषात्मक स्वरूप में किस प्रकार ज्ञात हो सकता है ? फिर ज्ञान का विषय पदार्थ का ऐसा स्वरूप भी हो सकता है जो अन्य समस्त पदार्थों से सादृश्य रखता हो अथवा जिसके सदृश अन्य कोई पदार्थ नहीं हो ; ऐसे पदार्थ में विशेष अथवा सामान्य स्वरूप का अभाव होने के कारण वह सामान्यविशेषात्मक स्वरूप में किस प्रकार ज्ञात हो सकता है ? इसी प्रकार पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर मुझे द्रव्य और पर्याय पदों का जो अर्थ ज्ञात था वह था-अनेक सहभावी गुणों और क्रमभावी पर्यायों में व्याप्त एक सत्ता द्रव्य तथा उसकी कालक्रम से होने वाली विशेष अभिव्यक्तियाँ पर्याय हैं । प्रमेय कमल मार्तण्ड में भी इन पदों का अर्थ इसी प्रकार से स्पष्ट किया गया था लेकिन न्याय विनिश्चय, सिद्धि

विनिश्चय के प्रतिपाद्य विषय को इन पदों के मात्रइसी अर्थ के आधार पर नहीं समझा जा सकता था । इन ग्रन्थों में द्रव्य और पर्याय पदों का प्रयोग क्रमशः विशेष्य ‡ वह पदार्थ, जिसे जाना जा रहा है ‡ तथा विशेषण ‡ वे विशेषताएं, जिनके द्वारा जाना जा रहा है ‡ अर्थ में किया गया है लेकिन इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं किया गया तथा "द्रव्य पर्यायात्मक अर्थ " के पर्यायवाची के रूप में कहीं पर एकानेकात्मक अर्थ और कहीं पर भेदाभेदात्मक अर्थ पदों का प्रयोग किया गया है । पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थों मात्र के अध्ययन पूर्वक उत्पन्नहुई द्रव्य और पर्याय पदों के अर्थ की समझ ज्ञान के स्वरूप से सम्बन्धित जैन सिद्धान्त में अनेक समस्याएँ उत्पन्न कर देती हैं । इसके विपरीत न्याय विनिश्चय, सिद्धि विनिश्चय में इन पदों के प्रयोग के स्वरूप को यथार्थतः समझ जाने पर वे समस्याएं लुप्त हो जाती हैं । इन तथा ऐसे ही अनेक पदों के अर्थों को समझने में जिसने मुझे सक्षम बनाया वह था डॉ. दया कृष्ण की एम. फिल की कक्षाओं तथा उनके द्वारा दार्शनिक चिन्तन पर आयोजित साप्ताहिक संगोष्ठियों, जिनमें विभाग के सभी शोध छात्रों का उपस्थित होना अनिवार्य था, के माध्यम से प्राप्त चिन्तन प्रक्रिया का प्रशिक्षण । उनकी कक्षाओं और सगोष्ठियों द्वारा उत्पन्न की गयी चिन्तन की क्षमता ने हममें किसी ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय को समझने तथा उसे अनेक बिन्दुओं से देखने की सामर्थ्य उत्पन्न की है तथा इस क्षमता के उपयोग पूर्वक ही इस शोध प्रबन्ध की रचना हुई है । यह उल्लेखनीय है कि जैन दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त " श्रुतज्ञान चिन्तनात्मक तथा मतिश्रुतज्ञान पूर्वक होता है ", मुझे इस शोध प्रबन्ध पर कार्य करते हुए ही समझ में आया है । विभिन्न संगोष्ठियों में उनके कथनों ने मेरे समक्ष अनेक सिद्धान्तों के महत्त्व को स्पष्ट किया है । उदाहरण के लिये ईहा का ज्ञान के विकास में महत्त्व तथा उसके पर्यायवाची शब्दों - मार्गणा ‡ अन्वेषण ‡, गवेषणा आदि की ओर मेरा ध्यान दयाजी

द्वारा विभिन्न संगोष्ठियों में ज्ञान के विकास में संशय, समस्या, जिज्ञासा आदि के महत्व को स्पष्ट करने के पश्चात गया है ।

डॉ. राजेन्द्र स्वरूप भटनागर, मेरे पिता-श्री ज्ञान चन्द्र जैन तथा अनुज-श्री राजकुमार छाबडा के साथ समय समय पर किये गये विचार विमर्श ने भी मुझे अनेक समस्याओं का समाधान प्राप्त करने में बहुत मदद की है ।

डॉ विश्वम्भर पई भारतीय दर्शन में कार्य कर रहे विद्यार्थियों को सदैव यह प्रेरणा देते रहे हैं कि भारतीय दर्शन में चिन्तन की धारा समाप्त हो चुकी है तथा ये इतिहास की वस्तु हो गये हैं । इनमें पुन: नवीन चिन्तन प्रारम्भ करके प्राणों का संचार किया जाना चाहिये तथा यह मानना बंद करके कि जो भी कुछ कहा जा सकता था पहले कहा जा चुका है, इसके सिद्धान्तों का विकास किया जाना चाहिये । उनके इन कथनों ने मुझमें आत्म विश्वास का संचार किया है तथा अनेक बार किसी समस्या पर विचार करते हुए मैंने, ऐसे निष्कर्षों का प्रतिपादन किया जिनका प्रतिपादन करने वाले कथन मुझे बाद में प्राप्त हुए ।

अंत में मैं मेरे निर्देशक डॉ. नन्द किशोर शर्मा के प्रति अत्यन्त आभारी हूँ जिनकी सतत प्रेरणा, प्रोत्साहन और निर्देशन के फलस्वरूप यह कार्य सम्पन्न हुआ है । साथ ही मैं मेरे समस्त गुरूजनों के प्रति आभारी हूँ । जिनके अध्यापन ने मुझमें इस कार्य को सम्पन्न करने की क्षमता उत्पन्न की ।

इस शोध कार्य के लिये मुझे राजस्थान विश्वविद्यालय पुस्तकालय; सन्मति पुस्तकालय, लाल भवन पुस्तकालय, साहित्य शोध विभाग, श्री महावीरजी तथा टोडरमल स्मारक पुस्तकालय, जयपुर के संचालकों द्वारा उदारता पूर्वक पुस्तकें प्रदान की गयी है । मैं इन सभी के प्रति बहुत आभारी हूँ ।

इस शोध प्रबन्ध की समाप्ति के अवसर पर मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, जिसकी योजनाओं के अन्तर्गत मुझे जुनियर रिसर्च फैलोशिप तथा टीचर फैलोशिप प्राप्त कर दर्शन विभाग के उत्साहवर्धक वातावरण में निश्चिन्तता पूर्वक रहते हुए शोध कार्य करने का स्वर्णिम अवसर मिला, तथा दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय ; जिसके द्वारा मुझे यह अवसर प्रदान किया गया, के प्रति अत्यन्त कृतज्ञता का अनुभव कर रही हूँ ।

राजकुमारी जैन .
14 अगस्त , 1987

=======

अध्याय - एक

- ज्ञान आत्मा का गुण -

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है । जिस प्रकार सूर्य स्वभावत: स्वपर प्रकाशक होता है, अग्नि स्वभावत: उष्ण होती है उसी प्रकार आत्मा स्वभावत: जानता है । उसमें समस्त पदार्थों को जानने की सहज सामर्थ्य होने के कारण तथा उसका उपयोगमय स्वरूप-सदैव जानने के लिये प्रवृत्ति रूप स्वभाव होने के कारण वह मुक्तावस्था में सर्वज्ञ होता है । उस समय वह समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को अन्य निरपेक्ष रूप से युगपत् जानता है । जिस प्रकार धूल, बादल आदि प्रतिबन्धकों के सद्भाव में सूर्य द्वारा विश्व प्रकाशन बंद हो जाता है उसी प्रकार संसारी अवस्था में ज्ञानावरणीय कर्म जीव की ज्ञान सामर्थ्य को मन्द कर देते हैं जिसके फलस्वरूप जीव इन्द्रिय, मन आदि बाह्य पदार्थों की सहायता लेकर ही वस्तुओं को क्रमिक रूप से थोडा थोडा जान पाता है । ज्ञानावरणीय कर्म जितने सघन होते हैं, इनका उदय जितना तीव्र होता है आत्मा में विषय बोध की क्षमता उतनी ही कम होती है तथा चेतना की विशुद्धि में वृद्धि के साथ साथ यह स्वत: ही विकसित होती जाती है जिसके सद्भाव में प्रवृत्त होने पर व्यक्ति विषय को उतना ही अधिक जान सकता है ।

"ज्ञान किस प्रकार की सत्ता है", इसे गुण कहना क्यों आवश्यक है" तथा इसके अस्तित्व के लिये आत्मा नामक् द्रव्य की सत्ता स्वीकार करनी क्यों आवश्यक है" इन प्रश्नों पर हम द्रव्य का स्वरूप तथा द्रव्य और गुण के मध्य विद्यमान सम्बंध का अध्ययन करते हुए विचार करेंगे ।

द्रव्य का स्वरूप -

जैन दर्शन के अनुसार जो भी सत् है वह द्रव्य है तथा वह गुण पर्यायात्मक स्वरूप से युक्त है । द्रव्य अपने अनेक सहभावी गुणों तथा क्रमभावी पर्यायों के

अतिरिक्त कुछ नहीं है । लेकिन, वह उनका समूह मात्र न होकर उनमें व्याप्त एक अखण्ड सत्ता है । साथ ही उनका आश्रय भी है। द्रव्य को परिभाषित करते हुए कुन्दकुंदाचार्य कहते है, "जो सत् लक्षण वाला है, उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है तथा गुणपर्यायों का आश्रय है, उसे सर्वज्ञ द्रव्य कहते हैं ।"[1] सत् होना, उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त होना तथा गुण-पर्यायों का आश्रय होना द्रव्य के तीन पृथक पृथक लक्षण न होकर एक ही लक्षण को अभिव्यक्त करने के तीन प्रकार है । जो भी सत् है वह गुण-पर्यायवान है तथा उसकी गुणपर्यायवत्ता ही उसकी उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तता है । गुण द्रव्य का सामान्य और ध्रुव अर्थात् शाश्वत स्वरूप है तथा पर्याय उस सामान्य और शाश्वत स्वरूप की कालक्रम से उत्पन्न होने वाली विशेष अभिव्यक्तियाँ हैं । द्रव्य अपने सामान्य स्वरूप से सदैव वही रहते हुए निरंतर पूर्व पर्याय से नष्ट होता हुआ और उत्तर पर्याय से उत्पन्न होता हुआ अस्तित्व रखता है, इसलिये प्रतिक्षण उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है । द्रव्य, गुण और पर्याय तीन पृथक पृथक सत्ताएं नहीं है अपितु गुण और पर्याय द्रव्य की आत्मा हैं, स्वभाव हैं तथा गुणपर्यायात्मक द्रव्य एक सत्ता है। अमृतचंद्र कहते हैं "यह अस्तित्व, जो कि द्रव्य का स्वभाव है, जिस प्रकार प्रत्येक द्रव्य में परिसमाप्त हो जाता है उसी प्रकार द्रव्य, गुण और पर्याय प्रत्येक में परिसमाप्त नहीं होता क्योंकि उनकी सिद्धि परस्पर होती है । द्रव्य की सिद्धि गुण और पर्यायों से, गुण की सिद्धि द्रव्य और पर्याय से तथा पर्याय की की सिद्धि द्रव्य और गुण से होती है । इसलिये उनका अस्तित्व एक ही है ।"[2]

द्रव्य की गुणात्मकता :

एक द्रव्य अनेक गुणात्मक होता है । "गुण वह है जो द्रव्य को विशेषित करता है, उसे अन्यों से व्याकृत करता है तथा उसके स्वरूप को निर्धारित करता है ।"[3] अमृतचन्द्र कहते है, " अनेकान्तात्मक अर्थ के अन्वयी विशेष गुण है ।"[4]

---

1. पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा-10
2. प्रवचनसार, पृष्ठ-143
3. जैन लक्षणावली, भाग-2, पृष्ठ-412
4. पंचास्तिकाय, गाथा-10 पर अमृतचन्द्रकृत टीका

धर्मभूषण कहते है, "जो द्रव्य के सभी प्रदेशों और सभी अवस्थाओं में व्याप्त हो, वह गुण है ।[1] नैयायिक गुण का गुणान्तर रूप परिवर्तन स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार द्रव्य का एक गुण, जैसे-आम के हरित रंग नष्ट होने पर अन्य गुण - पीत रंग की उत्पत्ति होती है । जैन दार्शनिकों के अनुसार गुण शाश्वत होता है । वह सामान्य रूप से सदैव वही रहते हुए विशेष रूप से प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है । हरित और पीत आम में विद्यमान एक स्थायी गुण - रूप की दो अवस्थाएँ हैं जो रूप सामान्य के शाश्वत नहीं रहने पर संभव नहीं हो सकती । इन पर्यायों के विनाश और उत्पत्ति को एक गुण का नाश तथा अन्य गुण की उत्पत्ति नहीं कहा जा सकता ।

गुण द्रव्य की आत्मा, उसका स्वभाव है तथा द्रव्य अपने गुणों के अतिरिक्त कुछ नहीं है । द्रव्य और गुणों के तादात्म्य सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए कुन्दकुन्द कहते हैं, "द्रव्य के बिना गुण नहीं होते तथा गुण के बिना द्रव्य नहीं होते । इसलिये द्रव्य तथा गुण परस्पर अभिन्न है ।[2] इसकी व्याख्या करते हुए अमृतचन्द्र कहते हैं, " जिस प्रकार पुद्गल से पृथक रूप-रस-गन्ध-स्पर्श नहीं होते उसी प्रकार द्रव्य के बिना गुण नहीं होते; तथा जिस प्रकार रूप-रस-गन्ध-स्पर्श से पृथक पुद्गल नहीं होता उसी प्रकार गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता । इस प्रकार द्रव्य और गुण में आदेशवशात् कथंचित भेद हैं तथापि वे एक अस्तित्व में नियत होने के कारण अन्योन्यवृत्ति नहीं छोड़ते, इसलिये उनमें वस्तु रूप से अभेद है ।[3] द्रव्य और गुण में संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजनादि की अपेक्षा भेद होता है । द्रव्य का नाम, यथा आत्मा अलग है, तथा गुणों का नाम, यथा ज्ञान, दर्शन, सुखादि अलग हैं । द्रव्य एक होता है, गुण अनेक होते हैं । इनके लक्षण भिन्न-भिन्न होते हैं । द्रव्य और गुण में उपर्युक्त अंतर होते हुए भी ये पृथक-पृथक सत्ता न होकर एक सत्ता है ।

पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा-13

वही गाथा-13 पर अमृतचन्द्र कृत टीका

[illegible] ; पृष्ठ - 121

गुण के द्रव्य का स्वरूप होने के कारण अनेक गुण ही एक द्रव्य है तथा द्रव्य अपने अनेक गुणों के अतिरिक्त कुछ नहीं है । द्रव्य और गुण के भेदाभेद सम्बन्ध के संदर्भ में कुन्दकुन्द का यह कथन दृष्टव्य है, " ज्ञान आत्मा है तथा आत्मा के बिना ज्ञान का अस्तित्व नहीं हो सकता । आत्मा अपने ज्ञान गुण से ज्ञान रूप है तथा अन्य गुणों से अन्य रूप भी है ।[1]

गुण की द्रव्याश्रयता :

बौद्ध कहते हैं कि प्रत्येक गुण एक स्वतंत्र सत्ता है तथा द्रव्य उनका समुदाय मात्र होने के कारण एक वास्तविक सत्ता न होकर नाम मात्र है । रूप, वेदना, संज्ञा, विज्ञान और संस्कार ये पाँच स्कंध ही वास्तविक सत्ता हैं तथा इन पाँच स्कंधों को एक आत्मद्रव्य मानना अनादि अविद्या जनित भ्रम मात्र है । वास्तव में एक और अनेक, भेद और अभेद परस्पर विरोधी हैं, अतः अनेक तथा परस्पर भिन्न भिन्न गुण परस्पर अभिन्न तथा एक द्रव्य किस प्रकार हो सकते हैं ?

वैशेषिक कहते हैं कि द्रव्य तथा गुण दोनों का ही अस्तित्व है । प्रत्येक गुण एक पृथक सत्ता है लेकिन यह अपने आप में नहीं रह सकता अपितु यह किसी द्रव्य में, जो उससे भिन्न सत्ता है, समवाय सम्बंध से रहता है तथा स्वयं निर्गुण होता है ।

जैन दार्शनिक कहते हैं कि द्रव्य न तो गुणों का समुदाय मात्र है और न ही उनसे भिन्न उनका आश्रय मात्र अपितु वह अनेक गुणों में व्याप्त एक सत्ता है । कभी किसी एक अकेले गुण की सत्ता नहीं हो सकती अपितु एक गुण अनेक गुणात्मक एक द्रव्य में ही अस्तित्व रख सकता है । कणाद के समान ही उमास्वामी भी कहते हैं, "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" जो द्रव्य में रहता है तथा स्वयं निर्गुण है, उसे गुण कहा जाता है ।[2] लेकिन कणाद तो द्रव्य और

1. प्रवचनसार, गाथा-27
2. तत्वार्थ सूत्र-5/41

गुण को पृथक पृथक सत्ता मानते है तथा गुण की द्रव्याश्रयता समवाय संबंध के द्वारा स्वीकार करते हैं । इसके विपरीत जैन द्रव्य और गुण में तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार करते हैं, तब उनके अनुसार इनमें आश्रय-आश्रयीभाव किस प्रकार हो सकता है ? जैन दार्शनिक कहते हैं कि द्रव्य और गुण में आधारा-धेय भाव उनमें भेदाभेद सम्बंध होने पर ही हो सकता है । यदि द्रव्य तथा गुण पृथक पृथक सत्ताएं हों तथा एक द्रव्य के विभिन्न गुणों में समानाधिकरण्य के अतिरिक्त कोई सम्बन्ध नहीं हो तो द्रव्य की सत्ता को स्वीकार करने का न तो कोई आधार है न औचित्य ही । हमें सदैव विभिन्न गुणों अथवा अनेक गुणात्मक द्रव्य का ही प्रत्यक्ष होता है । लेकिन कभी किसी इन्द्रिय के द्वारा गुणों से पृथक उनके आश्रयतभूत द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता । फिर जो पृथक पृथक सत्तायें होती हैं उनमें आधाराधेयभाव औपचारिक ही होता है, वास्तविक नहीं । उदाहरण के लिये "कूंडे में दही है," यह कथन लोक व्यवहार की अपेक्षा ही सत्य है । कुण्डा और दही दो पृथक पृथक सत्तायें होने के कारण कूण्डा वास्तव में अपने अवयवों में तथा दही अपने अवयवों में रहता है । इसी प्रकार यदि द्रव्य और गुण भी दो पृथक सत्ताएं हों तो गुण द्रव्य में न रहकर अपने आप में ही रहेगा ।

कहा जा सकता है कि कूण्डा और दही युतसिद्ध पदार्थ हैं जबकि गुण और द्रव्य अयुतसिद्ध पदार्थ हैं । इसलिये गुण द्रव्य में ही रह सकता है द्रव्य से स्वतंत्र रूप में नहीं । विधानन्दि कहते हैं कि द्रव्य और गुण में भी अयुत-सिद्ध पदार्थ उन्हें कहा जाता है जो अपृथक् आश्रय में रहते हैं । वैशेषिकों के अनुसार द्रव्य और गुण के आश्रय भिन्न भिन्न हैं । कार्यद्रव्य अपने अवयवों में तथा गुण कार्यद्रव्य में रहते हैं ।[1]

---

1. आप्त परीक्षा, पृष्ठ-111

गुण द्रव्य में समवेत तभी हो सकते हैं अथवा उन्हें अयुतसिद्ध तभी कहा जा सकता है जबकि वे दोनों अभिन्न हों । अन्यथा जिस प्रकार आत्मा, दिक्,काल और आकाश पृथक-पृथक सत्ता होने के कारण समान स्थान में रहते हुए भी एक दूसरे में न रहकर अपने आप में रहते हैं उसी प्रकार गुण के भी द्रव्य से पृथक सत्ता होने पर वह द्रव्य में न रहकर अपने आप में रहेगा । लेकिन अमृतचन्द्र के शब्दों में," गुण वास्तव में किसी के आश्रय से होते हैं । वे जिसके आश्रित हों वह द्रव्य होता है, वह [द्रव्य] यदि गुणों से भिन्न हो तो फिर भी गुण किसी के आश्रित होंगे, वे जिसके आश्रित हों वह द्रव्य होता है, यदि वह भी गुणों से अन्य हो तो ......इस प्रकार यदि द्रव्य की गुणों से भिन्नता हो तो द्रव्य की अनन्तता होगी ।[1]

एक द्रव्य अपने समस्त गुणों में व्याप्त एक अखण्ड सत्ता है तथा उस द्रव्य के सभी गुण उस अखण्ड सत्ता में ही रहते हैं । उदाहरण के लिये अस्तित्व गुण अपने आप में नहीं रह सकता अपितु ज्ञानदर्शनसुखवीर्यात्मक एक आत्मा में रहता है । दूसरे शब्दों में किसी एक अकेले गुण की सत्ता नहीं हो सकती अपितु एक गुण अनेक गुणात्मक एक द्रव्य का स्वरूप होता है । सत् होना अपने आप मे कुछ नहीं होता अपितु ज्ञानदर्शनसुखवीर्यात्मक आत्मा अथवा रूपरसगन्धस्पर्शात्मक पुद्गल सत् होता है । अकेले ज्ञान की सत्ता कभी नहीं हो सकती, अपितु दर्शनसुखवीर्यात्मक आत्मा ज्ञाता होता है ।

दार्शनिक जैन ज्ञान को एक स्वतंत्र सत्ता क्यों नहीं मानते तथा अनेक गुणात्मक आत्मा को ज्ञाता क्यों कहते हैं इसे समझने के लिये हम कुछ जैन आचार्यों के कथनों पर विचार करें । अमृतचन्द्र, द्रव्य तथा उसके समस्त गुणों के एकत्व को स्थापित करते हुए कहते हैं, "द्रव्य और गुणों का अविभक्त प्रदेशत्व स्वरूप अनन्यपना स्वीकार किया जाता है लेकिन विभक्त प्रदेशत्व स्वरूप अन्यपना

---

1. पंचास्तिकाय संग्रह गाथा-44 पर अमृतचन्द्र कृत टीका

और अनन्यपना स्वीकार नहीं किया जाता । यह स्पष्ट समझाया जाता है - जिस प्रकार एक परमाणु का एक स्वप्रदेश के साथ अविभक्तपना होने से अनन्यपना है उसी प्रकार एक परमाणु को और उसमें रहने वाले रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादि गुणों को अविभक्त प्रदेश होने से । अविभक्त प्रदेशत्व स्वरूप और अनन्यपना है, परन्तु जिस प्रकार अत्यन्त दूर ऐसे सह्य और विन्ध्य में विभक्तप्रदेशत्व स्वरूप अन्यपना है तथा अत्यन्त निकट ऐसे नीरक्षीर को विभक्त-प्रदेशत्व स्वरूप अनन्यपना है, उसी प्रकार द्रव्य और गुण को विभक्तप्रदेश न होने से विभक्तप्रदेशत्व स्वरूप अन्यपना और अनन्यपना नहीं है"।[1]

वह स्थान जिसमें द्रव्य रहता है अथवा द्रव्य का विस्तार उसके प्रदेश कहलाते हैं । द्रव्य और उसके समस्त गुण अभिन्न प्रदेशी होने के कारण एक सत्ता हैं । उनमें एक प्रदेशी होने का तात्पर्य यह नहीं है कि वे आकाश के समान अंश में अवस्थित हैं । आकाश के समान अंश में तो धर्म और अधर्म द्रव्य भी अवस्थित हैं लेकिन उन्हें एक प्रदेशी नहीं कहा जा सकता । धर्म द्रव्य अपने स्वभाव में, अपने समस्त गुणों में रहता है तथा अधर्म द्रव्य अपने गुणों में रहता है । जिस प्रकार धर्म और अधर्म द्रव्य के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं तथा इसलिये ये पृथक पृथक सत्ता हैं उसी प्रकार से द्रव्य और उसके समस्त गुणों के प्रदेश भिन्न भिन्न नहीं हैं । द्रव्य, जैसे-आत्मा तथा इसके समस्त गुण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अस्तित्व, वस्तुत्वादि अपने अपने स्वभाव में नहीं रहते अपितु एक दूसरे में रहते हैं। वे अपनी सत्ता के लिये परस्पर आश्रित हैं तथा इसलिये ये सभी एक वस्तु हैं, एक सत्ता हैं । अमृतचन्द्र कहते हैं, " जिस प्रकार एक मोतियों की माला का शुक्लत्व गुण शुक्ल हार, शुक्ल धागा, शुक्ल मोती इन तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है उसी प्रकार एक द्रव्य का सत्ता गुण सत् द्रव्य, सत् गुण तथा सत् पर्याय इन तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है ।"[2] जो बात द्रव्य के सत्ता गुण के सम्बन्ध में सत्य है वही द्रव्य

----

1. वही, गाथा-45 पर अमृतचन्द्र कृत टीका
2. प्रवचनसार, गाथा-107 पर अमृतचन्द्र कृत टीका

के अन्य समस्त गुणों के संबंध में भी सत्य है । वादिराज कहते हैं, "गुण भेदापेक्षया ही निर्गुण होते हैं लेकिन अभेदापेक्षया वे गुणात्मक भी होते हैं ।[1] इसका दृष्टान्त हमें कुन्दकुन्दाचार्य कृत नियमसार की कुछ गाथाओं में उपलब्ध होता है, "ज्ञान पर प्रकाशक ही है और दर्शन स्वप्रकाशक ही है तथा आत्मा स्वपर प्रकाशक है ऐसा यदि तू वास्तव में मानता हो तो इससे विरोध आता है यदि ज्ञान ।केवल। पर प्रकाशक हो तो ज्ञान से दर्शन भिन्न सिद्ध होगा क्योंकि दर्शन पर द्रव्यगत नहीं है ऐसा वर्णन किया गया है । यदि आत्मा ।केवल। पर प्रकाशक हो तो आत्मा से दर्शन भिन्न सिद्ध होगा क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत नहीं है ऐसा वर्णन किया गया है । व्यवहार नय से ज्ञान पर प्रकाशक है इसलिये दर्शन पर प्रकाशक है तथा व्यवहार से आत्मा परप्रकाशक है इसलिये दर्शन पर प्रकाशक है । निश्चय नय से ज्ञान स्वप्रकाशक है इसलिये दर्शन स्वप्रकाशक है, निश्चय नय से आत्मा स्वप्रकाशक इसलिये दर्शन स्वप्रकाशक है ।"[2]

इन गाथाओं का आशय यह है कि आत्मा ज्ञान, दर्शन आदि का समुच्चय मात्र नहीं है अपितु ज्ञान, दर्शन की एकता आत्मा है । ज्ञान परप्रकाशक होता है लेकिन इन दोनों में अभेद होने के कारण ज्ञान भी स्वप्रकाशक तथा दर्शन भी परप्रकाशक होते है । यहाँ ज्ञान को परप्रकाशक तथा दर्शन को स्वप्रकाशक कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि ज्ञान बाहरी पदार्थों को जानता है, तथा ज्ञान की स्वसंवेदनता दर्शन है अपितु दर्शन का अर्थ अनुभूति तथा ज्ञान का अर्थ निश्चय है । ज्ञान निश्चयात्मक अर्थ में स्वपर प्रकाशक ही होता है । किसी पदार्थ के स्वरूप के प्रति निश्चय को ज्ञान कहा जाता है । विषय बन रहे पदार्थ के स्वरूप का निश्चय ज्ञान तभी कर सकता है जबकि वह स्वयं के विषय बोध रूप स्वरूप का निश्चय भी करे । इस प्रकार ज्ञान स्वयं के तथा अर्थ के स्वरूप का निश्चायक होने के कारण स्वपरप्रकाशक

---

1. न्याय विनिश्चय विवरण, भाग-2 पृष्ठ-97
2. नियमसार, गाथा-161-165

लेकिन अनुभूति स्वयं की ही होती है । चेतना स्वानुभूति रूप होती है । व्यक्ति समस्त जड़ चेतन पदार्थों को जान सकता है लेकिन वह अन्य पदार्थों के स्वरूप का उस रूप में अनुभव नहीं कर सकता जिस रूप में वह स्वयं के अस्तित्व का अनुभव करता है । चेतना के इस अनुभूत्यात्मक स्वरूप को ही दर्शन गुण कहा गया है ।

ज्ञान और दर्शन में संज्ञा, लक्षण, प्रयोजनादि की अपेक्षा भेद होने पर भी ये पृथक-पृथक सत्ताएं नहीं है । ज्ञान में अनुभूत्यात्मकता आत्मा के दर्शन गुण से आती है । ज्ञान किसी वस्तु के स्वरूप का निश्चय तभी कर सकता है जबकि वह दर्शनात्मक हो । (यदि वह दर्शन रहित हो तो जड़ होगा तथा जड़ पदार्थ कभी किसी वस्तु को नहीं जान सकता)। इसी प्रकार यदि दर्शन भी ज्ञान रहित हो तो उसकी भी सत्ता नहीं हो सकती । अनुभूति ज्ञानात्मक, सुखात्मक, वीर्यात्मकआदि विशेष स्वरूप को लिये ही होती है, शुद्ध निर्विशेष अनुभूति की सत्ता नहीं हो सकती ।

जिस प्रकार ज्ञान दर्शनात्मक होता है उसी प्रकार वह वीर्यात्मक, अस्तित्वात्मक, वस्तुत्वात्मक, शुद्ध होने पर सुखात्मक तथा रागद्वेष युक्त होने पर दुःखात्मक भी होता है । ज्ञान में आत्मा के सभी गुणों का तथा आत्मा के सभी गुणों में ज्ञान का विस्तार होता है । यदि ज्ञान में वीर्य का अभाव मानाजाय तो ज्ञानात्मक प्रयत्नों का अभाव होने से ज्ञान की सत्ता नहीं हो सकती । उसे अस्तित्वात्मक नहीं मानने पर उसका अभाव होगा । इस प्रकार एक गुण अपना स्वरूप द्रव्य के अन्य समस्त गुणों से प्राप्त करके ही रख सकता है । इसलिये जैन कहते हैं कि गुण द्रव्य में रहते हैं ।

कहा जा सकता है कि जब किसी गुण की आत्मा या स्वरूप द्रव्य के अन्य समस्त गुण हैं तो किसी भी गुण के वाचक शब्द के द्वारा सम्पूर्ण द्रव्य का ग्रहण हो जाना चाहिये । दूसरे शब्दों में ज्ञान और आत्मा शब्द पर्यायवाची होने चाहिये । लेकिन ज्ञान और आत्मा शब्द पर्यायवाची नहीं है "ज्ञान"शब्द के द्वारा आत्मा के समस्त गुणों का ज्ञान में विस्तार तथा ज्ञान का समस्त

आत्मगुणों में विस्तार ही ज्ञात हो सकता है जबकि उसके द्वारा अन्य गुणों का ज्ञानातिरिक्त गुणों के विस्तार ज्ञात नहीं होता । आत्मा शब्द के द्वारा सभी गुणों के पारस्परिक विस्तार स्वरूप एक अखण्ड सत्ता का बोध होता है ।

वस्तु के इस अभेदात्मक पक्ष को दृष्टि में रखकर ही अद्वैत वेदान्ती द्रव्य की एकता को ही पूर्णसत्य मानते हैं तथा उस पूर्णरूपेण एक अखण्ड द्रव्य में अनेक गुण रूप भेद को अनादि अविद्या जनित भ्रम मात्र मानते हैं । उनके अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा सदैव सर्वथा एकरूप सत्ता का ही ज्ञान होता है । तत्पश्चात् उत्पन्न होने वाला सविकल्पक ज्ञान उस अखण्ड वस्तु में अनेक गुण रूप भेद आरोपित कर देता है । यह भेद शाब्दिक मात्र होने के कारण काल्पनिक है । उदाहरण के लिये "ब्रह्म सत् चित् आनंद स्वरूप है" इस कथन में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन तीन विशेषताओं (सत् होना, चैतन्ययुक्त होना तथा आनन्दमयता) के द्वारा किया गया है । वस्तुतः सत्ता चैतन्य युक्त ही हो सकती है तथा उसकी चैतन्ययुक्तता ही उसकी आनन्दमयता है । अतः एक धर्मी में तीन धर्म रूप भेद तात्विक न होकर शाब्दिक है तथा तात्विक रूप से वह सर्वथा एक है ।

जैन दार्शनिक कहते हैं कि यद्यपि एक द्रव्य के सभी गुण वस्तु रूप से अभिन्न हैं पृथक-पृथक सत्ता नहीं हैं तथापि उनकी अनेकरूपता वास्तविक है । वस्तु एक होते हुए भी अनेक स्वभावों से युक्त है तथा उसके यथार्थ अनेक स्वभावों के लिये ही पृथक पृथक वाचक शब्दों का प्रयोग किया जाता है । यदि वस्तु पूर्णरूपेण एकरूप हो तो उसकी समस्त विशेषताओं के वाचक शब्द पर्यायवाची होने चाहिये तथा उनमें से किसी भी एक शब्द के प्रयोग के द्वारा वस्तु का सम्पूर्णतः बोध हो जाना चाहिये । "सत्" के द्वारा ही ब्रह्म की चैतन्यमयता, आनंदमयता, शाश्वतता आदि सम्पूर्ण स्वरूप का ज्ञान हो जाना चाहिये, लेकिन सत् के द्वारा मात्र यही ज्ञान होता है कि "ब्रह्म" है, यह नहीं कि वह किस प्रकार का है, चैतन्य पद के द्वारा उसकी स्वानुभूत्यात्मकता का ही ज्ञान होता है, वह अनुभूति आनदमय है या व्याकुलता रूप" का नहीं । इसके अतिरिक्त ब्रह्म कूटस्थ

नित्य है अथवा परिवर्तनशील, सक्रिय है अथवा निष्क्रिय, ज्ञान स्वरूप है अथवा ज्ञान रहित आदि ब्रह्म के अन्य अनेक पक्ष हैं जिनके विवेचन से ग्रन्थ भरे पडे हैं । यदि ब्रह्म को अनेक स्वभाव युक्त एक सत्ता न मानकर पूर्णरूपेण एक सत्ता माना जाय तो उसकी सत्ता की कल्पना करना भी असम्भव होगा ।

जैन द्रव्य के एकानेकात्मक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये प्रायः चित्र का दृष्टान्त देते हैं । जिस प्रकार एक चित्र लाल, नीला, पीला आदि अनेक रंगों में व्याप्त होता है तथा ये रंग चित्र रूप से एक होते हुए भी रंग रूप से अनेक हैं उसी प्रकार एक द्रव्य अनेक गुणों में व्याप्त होता है । उसके गुण द्रव्य रूप से एक होते हुए भी गुण रूप से अनेक हैं ।

द्रव्य की एकानेकात्मकता तथा गुण की द्रव्याश्रयता को अधिक स्पष्ट रूप में समझने के लिये हम शरीर का दृष्टान्त ले सकते हैं । एक शरीर अपने समस्त अंगों का समूह तथा उनका आश्रय है । हाथ, पैर आदि विभिन्न अंग संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा भिन्न भिन्न होते हुए भी पारस्परिक संबंध पूर्वक संघठित एक शरीर हैं तथा वे शरीर में रहकर ही उस रूप से अस्तित्व रख सकते हैं । हाथ, पैर, पेट, मस्तिष्क आदि सभी अंगों के अपने अपने नियत कार्य हैं, मस्तिष्क निर्णय लेता है, हाथ उठाना, रखना आदि क्रियाओं को करता है; पैरों का कार्य गमन क्रिया करना है। शरीर के ये अंग अपने कार्यों का सम्पादन शरीर के अन्य अंगों के कार्यों से प्रभावित होकर ही करते हैं । तथा उनके कार्यों का प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर पड़ता है । दूसरे शब्दों में वे अपनी क्रियाओं का सम्पादन शरीर में रहते हुए ही उसके एक अंग के रूप में ही कर सकते हैं । तथा यदि किसी भी अंग को शरीर से अलग कर दिया जाय तो वह अपनी सार्थकता खो देता है । इसी प्रकार एक द्रव्य के सभी गुण ही पारस्परिक तादात्म्य स्वरूप द्रव्य हैं लेकिन इससे इनकी अनेकता समाप्त नहीं होती । जिस प्रकार हाथ, पैर आदि अंगों के कार्य भिन्न

भिन्न हैं । ज्ञान ही जानता है, दर्शन ही अनुभूति रूप है। ज्ञान का कार्य अनुभव करना और दर्शन का कार्य निश्चय करना नहीं है । जिस प्रकार हाथ, पैर आदि अंग अपने कार्यों का सम्पादन शरीर के अन्य अंगों के कार्यों से प्रभावित होते हुए करते हैं तथा उनके कार्य शरीर के अन्य अंगों को प्रभावित करते हैं उसी प्रकार एक गुण का कार्य द्रव्य के समस्त गुणों से प्रभावित होकर ही सम्पन्न होता है तथा वह द्रव्य के समस्त गुणों को प्रभावित करता है । अधिक स्पष्ट रूप से कहें तो एक गुण द्रव्य में रहता हुआ ही, द्रव्य के समस्त गुणों से द्रव्यापेक्षया अभिन्न होकर ही अपने स्वरूप को प्राप्त कर सकता है, अस्तित्व रख सकता है तथा कभी किसी एक अकेले गुण की सत्ता नहीं हो सकती । द्रव्य और गुण एक ही सत्ता के दो परस्पर अपरिहार्य पक्ष हैं । ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य ही आत्मा है तथा ये गुण अपने आप में न रहकर आत्म द्रव्य में रहते हैं । दूसरे शब्दों में गुणों की एकता ही द्रव्य तथा द्रव्य की अनेकता ही गुण है । विद्यानन्दि कहते हैं, " धर्म ही कथंचित् भेद तथा धर्मी ही कथंचित् अभेद होते हैं तथा धर्म और धर्मी दोनों ही कथंचित् भेदाभेद हैं । ये कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद ही कथंचित् तादात्म्य हैं । "तादात्म्य" में तत् पद के द्वारा वस्तु का ग्रहण है । उस वस्तु के जो दो स्वरूप हैं भेद और अभेद उन दोनों को ही तादात्म्य (तत् = वस्तु + आत्म्य = आत्मा या स्वभाव अर्थात भेद और अभेद दोनों ही वस्तु की आत्मा या स्वभाव हैं) कहा जाता है ।" "कथंचित्" इस विशेषण के द्वारा परस्पर निरपेक्ष - आपस में एक दूसरे की अपेक्षा से रहित सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद का निराकरण हो जाता है तथा परस्पर सापेक्ष - आपस में एक दूसरे की अपेक्षा के सहितभेदाभेद का ग्रहण होने से ज्यात्यन्तर-सर्वथा भेदाभेद से विजातीय कथंचित् भेदाभेद रूप वस्तु की स्थापना होती है ।[1]

----

1. आप्त परीक्षा, पृष्ठ-89

आत्मा का उपयोगतात्मक स्वरूप -

ज्ञान आत्मा का गुण होने के कारण उसका शाश्वत् स्वरूप है । आत्मा एक शाश्वत चेतन सत्ता है जो उपयोगमय होती है । श्रुत सागर सूरि उपयोग का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं - जिस स्वभाव के द्वारा चेतना विषयोन्मुखी हो या विषय से सम्बद्ध हो, उसे जानने के लिये प्रवृत्त हो, उसे जानने का व्यापार करे वह उपयोग है ।[3] इस प्रकार उपयोग के अर्थ में दो विशेषताएँ निहित हैं - विषय को जानने के लिये प्रवृत्ति तथा विषय बोध रूप व्यापार । आत्मा ज्ञानोपयोग की किस विशेष अवस्था रूप से परिणत होगा यह उसके आन्तरिक बाह्य कारणों के सद्भाव पर निर्भर करता है । इसलिये अकलंक कहते हैं - अंतरंग तथा बहिरंग कारणों के यथासम्भव सद्भाव में होने वाला आत्मा का चैतन्यानुविधायी परिणाम । चेतना का अनुसरण करने वाला, सदैव चेतना के साथ पाया जाने वाला परिणाम । उपयोग है ।[1] उपयोग के अंतरंग कारण हैं - ज्ञानावरणीय तथा वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम तथा बहिरंग कारण हैं - इन्द्रिय, मन, प्रकाशादि, इनके यथा सम्भव सन्निधान से तात्पर्य है व्यक्ति की आन्तरिक योग्यता के अनुसार समस्त कारणों का सद्भाव । मुक्तावस्था में ज्ञान के प्रतिबन्धक समस्त कर्मों का अभाव होने के कारण चेतना का ज्ञानोपयोग परिणाम बाह्य सामग्री से निरपेक्ष रूप से होता है जबकि संसारी जीव के लिये उनका सद्भाव आवश्यक है । मनुष्य चक्षु के माध्यम से विषय को चक्षुइन्द्रिय ज्ञानावरण तथा वीर्यांतराय कर्म का क्षयोपशम तथा नेत्र और प्रकाश के सद्भाव में ही जान सकता है जबकि बिल्ली के लिये चाक्षुष प्रत्यक्ष हेतु प्रकाश की कोई आवश्यकता नहीं है । इन अंतरंग बहिरंग कारणों के सद्भाव में होने वाला चेतना का विषय बोध रूप परिणाम ही उपयोग है ।[2]

1. बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने यथासम्भवमुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः ।
1. तत्वार्थ वार्तिक, पृष्ठ-118
2. वही
3. तत्वार्थ वृति पृष्ठ-97

चेतना उपयोग रूप होने के कारण सदैव सविषयक होती है। वह बाह्य आभ्यन्तर हेतुओं के सद्भाव के अनुसार सदैव किसी न किसी पदार्थ की ओर उन्मुख होती रहती है तथा उसे जानती रहती है।

आत्मा का परिणामी नित्यता स्वरूप -

आत्मा एक शाश्वतउपयोगात्मक तत्व होने के कारण सदैव ज्ञान-दर्शन रूप ही होती है। वह स्वभावतः अपनी सामर्थ्य के अनुसार किसी न किसी विषय को जानने के लिये प्रवृत्त होती रहती है तथा (उसके) ज्ञान रूप परिणामित होकर उसे जानती रहती है। वह घट को जानने के लिये प्रवृत्त होने पर घट ज्ञान रूप तथा उसे जानना छोड पट को जानने के लिये प्रवृत्त होने पर पट ज्ञान रूप पर्याय को प्राप्त करती है पर किसी भी क्षण ज्ञान रहित नहीं होती। जैन शब्दावली में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मय आत्मा का ज्ञान गुण, जो आत्मा का सामान्यापेक्षया अन्वयी तथा नित्य स्वरूप है, एक विशेषपर्याय से नष्ट होता हुआ तथा दूसरी विशेष पर्याय से उत्पन्न होता हुआ निरंतर अस्तित्व रखता है।

अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि आत्मा एक कूटस्थ नित्य सत्ता है तथा उसमें दृष्टिगोचर हो रहा परिवर्तन आभास मात्र है। घट ज्ञान, पट ज्ञान आदि रूप से परिवर्तन नाम रूप मात्र का परिवर्तन होने के कारण वास्तविक नहीं है क्योंकि ज्ञान स्वरूप आत्मा सदैव वही का वही रहता है। वह ज्ञान रूपसे नष्ट होकर अन्य रूप से उत्पन्न नहीं होता। अतः आत्मा का शाश्वत ज्ञानसामान्य स्वरूप ही वास्तविक है तथा उसका ज्ञान विशेष रूप से दृष्टिगोचर हो रहा परिवर्तित स्वरूप आभास मात्र है।

बौद्धों के अनुसार घट ज्ञान, पट ज्ञान आदि परस्पर पूर्णतया भिन्नभिन्न ज्ञान विशेषों की ही सत्ता है। उनमें एकत्व की प्रतीति सादृश्य के कारण होती है तथा यह प्रतीति भ्रामक है। यदि ये ज्ञान क्षण अभिन्न हों तो भिन्न भिन्न

क्षणों में भिन्न भिन्न पदार्थों का बोध असम्भव होगा । पूर्वापर ज्ञान क्षणों में कार्य कारण सम्बंध होता है तथा कारण के निरन्वय विनाशपूर्वक ही कार्योत्पत्ति सम्भव है अतः परस्पर भिन्न भिन्न पूर्वापर ज्ञान क्षणों की ही सत्ता है तथा उनमें व्याप्त किसी शाश्वत आत्मा की सत्ता नहीं है ।

जैन दार्शनिक कहते हैं कि एक परिणामी नित्य आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करके ही ज्ञान की सत्ता को समझा जा सकता है, कूटस्थ नित्य आत्मा या क्षणिक ज्ञान पर्याय मात्र को स्वीकार करके नहीं । ज्ञान पर्यायों से रहित ज्ञान सामान्य स्वरूप आत्मा की सत्ता ही नहीं हो सकती । आत्मा ज्ञानस्वरूप तभी हो सकती है जबकि किसी विषय को जाने । विषय निरंतर परिवर्तित होते रहते हैं । यदि विषय परिवर्तन के साथ साथ आत्मा की अवस्थाओं में परिवर्तन नहीं हो तो आत्मा कभी कुछ जान ही नहीं सकता । आत्मा घट ज्ञान रूप पर्याय को प्राप्त कर घट को तथा उस रूप से नष्ट होकर तथा घट ज्ञान रूप पर्याय से उत्पन्न होकर घट को जानता है । यदि आत्मा में ज्ञान विशेष रूप से निरंतर परिणमन स्वीकार नहीं किया जाय तो उसके ज्ञान सामान्य स्वरूप की सत्ता असम्भव है क्योंकि शुद्ध निर्विषयक ज्ञान सामान्य की सत्ता नहीं हो सकती ।

विभिन्न ज्ञान पर्यायों की ही सत्ता स्वीकार करने पर तथा उनके एक द्रव्यत्व का निषेध करने पर ज्ञान की व्याख्या असम्भव है । कोई भी पदार्थ एक क्षण में ज्ञात नहीं हो सकता, बल्कि अनेक क्षणों में व्याप्त एक ज्ञान ही उसे जान सकता है । [प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द बोध, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि सभी स्थायी ज्ञाता की सत्ता होने पर ही सम्भव हैं । इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रथम क्षण में ही विषय को पूर्णतया स्पष्ट रूप से नहीं जान लेता बल्कि अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा के क्रम से क्रमशः स्पष्ट और ~~स्पष्ट और~~ अधिक स्पष्ट पर्यायों को प्राप्त करते हुए जानता है]। अनुमान उसी को हो सकता है जो पहले

अन्वय व्यतिरेकी, दृष्टान्तों के प्रत्यक्षपूर्वक व्याप्ति का निश्चय कर चुका हो तथा वर्तमान में हेतु के प्रत्यक्ष, व्याप्ति स्मरण तथा साध्य ज्ञान रूप क्रमिक पर्यायों को प्राप्त कर रहा हो । एक वाक्य का ज्ञान भी क्रमिक रूप से भिन्न भिन्न अंशों को ग्रहण करने वाले एक ज्ञान द्वारा ही सम्भव है । यदि प्रत्येक क्षण को जानने वाला ज्ञान पूर्णतया भिन्न है तो एक दूसरे से अपरिचित होने के कारण एक वाक्य कभी ज्ञात ही नहीं हो सकेगा । यदि विभिन्नज्ञान क्षणों में पर्यायगत अन्तर के साथ ही साथ द्रव्यापेक्षया तादात्म्य स्वीकार नहीं किया जाय तथा प्रत्येक ज्ञान क्षण पूर्णतया नवीन हो तो पूर्ववर्ती ज्ञानों से अपरिचित होने के कारण सदैव निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही होता रहेगा ।

बौद्ध कहते हैं कि एक सन्तान के पूर्वापर क्षणों में कार्य कारण सम्बन्ध होने के कारण उस सन्तान के एक क्षण ने जिस पदार्थ को ग्रहण किया है उत्तरेवर्ती क्षण उसके संस्कारों को प्राप्त करके उसे ही और अधिक और अधिक विशिष्ट रूप से ग्रहण करने में समर्थ होते हैं । जिस सन्तान के एक क्षण ने प्रत्यक्ष किया है उसी सन्तान के उत्तरवर्ती अन्य क्षण को उसकी स्मृति होती है । "सन्तान" एक सत्ता का वाचक शब्द न होकर कारण कार्य भाव से सम्बन्धित पूर्वापर क्षणों के समूह का वाचक शब्द है ।[1] अतः कोई वास्तविक अनुभवकर्ता, स्मरणकर्ता की सत्ता नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि जिसने प्रत्यक्ष किया है उसी को स्मृति होती है । एक शाश्वत आत्मा का अभाव होने पर भी विभिन्न ज्ञान क्षणों में प्रतिनियत कार्य कारण भाव होने के कारण समस्त प्रकार के ज्ञान सम्भव हैं ।[2]

जैन दार्शनिक कहते हैं कि पूर्ववर्ती ज्ञान क्षण का निरन्वय विनाश स्वीकार करने पर उसके द्वारा किसी उत्तरवर्ती ज्ञान क्षण की उत्पत्ति ही सम्भव नहीं है । कारण वही हो सकता है जिसके होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है ।

----

1. तत्व संग्रह पंजिका, पृष्ठ-638

2. तत्व संग्रह पंजिका, पृष्ठ-229

तथा जिसका अभाव होने पर कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता । यह अन्वय व्यतिरेक क्षणिकवाद में सम्भव ही नहीं है क्योंकि वहाँ पर कारण का पूर्ण रूपेण अभाव होने पर कार्य की उत्पत्ति होती है तथा कारण के सद्भाव में कार्य उत्पन्न नहीं होता ।[1] यदि जिसकी सत्ता ही नहीं है उसके द्वारा भी किसी कार्य की उत्पत्ति हो सकती है तो चिरविनष्ट पति के द्वारा विधवा को गर्भ की प्राप्ति हो जानी चाहिये । यह नहीं कहा जा सकता कि अनन्तरक्षणवर्ती पदार्थ ही कार्य हो सकता है, व्यवहित पदार्थ नहीं ; क्योंकि दोनों ही स्थलों में कारण का अभाव समान रूप से विद्यमान है तथा असत् पदार्थ के पूर्ण रूपेण स्वरूप शून्य होने के कारण उनमें किसी प्रकार का अंतर नहीं किया जा सकता ।[2]

किसी भी कार्य की उत्पत्ति के लिये उपादान कारण का होना आवश्यक है जो कार्य रूप में परिणत होता है । यह उपादान उपादेय भाव एक स्थायी द्रव्य की दो पूर्वापर पर्यायों में ही हो सकता है । उपादान कारण द्रव्य रूप से वही रहते हुए पर्याय रूप से नष्ट होकर कार्य रूप में परि-णत होता है । यदि उपादान कारण के पूर्ण रूपेण विनाश पूर्वक कार्योत्पत्ति मानी जावे तो कार्य को शून्य से उत्पन्न हुआ मानना पडेगा जो सम्भव नहीं है । उदाहरण के लिये तन्तु और वस्त्र में उपादान उपादेय भाव इसी लिये विद्यमान है कि तंतु सामान्य अपनी पृथक पृथक तंतु रूप अवस्था से नष्ट होकर आतान वितान रूप वस्त्र अवस्था से उत्पन्न होते हैं तथा दोनों ही अवस्थाओं में तंतु सामान्य रूप से वही के वही हैं । यदि पृथक पृथक अवस्था युक्त तंतुओं के कथंचित् विनाश पूर्वक वस्त्र की उत्पत्ति न मानकर निरन्वय विनाशपूर्वक वस्त्र की उत्पत्ति मानी जाय तो वस्त्र की उत्पत्ति तन्तुओं से न होकर शून्य से होगी तथा शून्य से कभी किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।[3]

---

1. सिद्धि विनिश्चय टीका, पृष्ठ-193
2. सिद्धि विनिश्चय टीका, पृष्ठ-195
3. अष्ट सहस्त्री, पृष्ठ-190

क्षणिक वाद के अनुसार विभिन्न ज्ञान क्षणों के मध्य कारण कार्य संबंध सम्भव नहीं हो सकता तब कारण कार्य संबंध से संबंधित क्षणों के समूह रूप संतान की बात किस प्रकार की जा सकती है ? जिसे एक संतान कहा जा रहा है, उसके विभिन्न क्षण परस्पर उतने ही भिन्न हैं जितने कि विभिन्न संतानों के क्षण परस्पर भिन्न भिन्न हैं । ऐसी स्थिति में उनमें किसी भी प्रकार के संस्कारों का आदान प्रदान किस प्रकार हो सकता है ।[1] जिसके आधार पर एक अनुभव कर्ता, स्मरण कर्ता को स्वीकार किये बिना स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि की व्याख्या की जा सके ? ज्ञान मात्र का अस्तित्व परिणामी नित्य आत्मा की सत्ता होने पर ही हो सकता है । एक शाश्वत ज्ञान सामान्यतया निरंतर ज्ञान की एक विशेष अवस्था से नष्ट होता हुआ तथा दूसरी विशेष अवस्था से उत्पन्न होता हुआ पदार्थों को जानता रहता है ।

यदि हम हमारे अनुभवों पर दृष्टिपात करें तो पाते हैं कि हमारा समस्त ज्ञान हमारे वर्तमान जीवन के अनुभवों पर आधारित है । बच्चा जन्म के समय कुछ भी नहीं जानता । वह निरंतर अनुभव पूर्वक ही किसी विषय में दक्षता प्राप्त करता है । यदि आत्मा एक शाश्वत द्रव्य है तो हमें जिस प्रकार हमारे वर्तमान जीवन में प्राप्त हुए अनुभवों की स्मृति होती है उसी प्रकार हमें हमारे भूतकालीन जीवन में प्राप्त हुए अनुभवों की भी स्मृति होनी चाहिये तथा पूर्व भव में हमने जिस विषय में दक्षता प्राप्त की हो वह हममें वर्तमान जीवन में विद्यमान होनी चाहिये, जो नहीं होती । इसलिये चार्वाक कहते हैं कि शरीर विशिष्ट चेतना ही आत्मा है तथा शरीर से पृथक किसी शाश्वतचेतन सत्ताआत्मा का अस्तित्व नहीं है । उनके अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु इन चार महाभूतों की ही सत्ता है । इनके शरीर रूप से विशिष्ट संयोग होने पर उसमें चेतना की उत्पत्ति होती है जो इस संयोग से नष्ट होते ही समाप्त हो जाती है । प्रश्न उठता है कि जब महाभूतों में चेतना का पूर्णतया अभाव है तो उनके संयुक्त होने पर उनमें चेतना कहाँ से आती है ? चार्वाक

---

1. सिद्धि विनिश्चय -4/3

इसके उत्तर में कहते हैं कि जिस प्रकार पान, सुपारी, कत्था आदि के संयुक्त होने पर उनमें अविद्यमान लाल रंग की उत्पत्ति हो जाती है उसी प्रकार पृथ्वी, जलादि महाभूतों के विशिष्ट रूप से संयुक्त होने पर उनमें नवीन गुणचेतना की उत्पत्ति हो जाती है ।[1]

जैन दार्शनिक कहते हैं कि प्रत्येक कार्य के लिये उपादान कारण का होना आवश्यक है । किसी भी कार्य की उत्पत्ति शून्य से नहीं हो सकती । उपादान कारण ही कार्य रूप में परिणत होता है इसलिये कार्य कारण संबंध एक अन्वयी द्रव्य की दो पूर्वापर पर्यायों के मध्य होता है । उदाहरण के लिये पिण्ड पर्याय से युक्त मृतिका द्रव्य घट पर्याय का उपादान कारण है जिसमें मृतिका द्रव्य मृतिका रूप से वही रहते हुए पिण्ड रूप से नष्ट होकर घट रूप से उत्पन्न होता है । तंतु अपनी पृथक पृथक रूप से स्थित पर्याय का परित्याग कर आतान वितान रूप पट अवस्था को प्राप्त करते हैं । इस प्रकार कारण और कार्य क्षणों में एक ही द्रव्य होता है जिसका सामान्य स्वरूप एक विशेष रूप का परित्याग कर दूसरे विशेष रूप को प्राप्त करता है ।[2]

जड़ और चेतना परस्पर पूर्णतया विरोधी हैं इसलिये जड पदार्थ चेतना के उपादान कारण नहीं हो सकते । चेतना का उपादान कारण एक चेतन द्रव्य ही हो सकता है जो चेतना की एक विशेष पर्याय का परित्याग कर दूसरी विशेष पर्याय को प्राप्त करता हुआ सदैव स्थित रहता है । यदि चेतना जड पदार्थों का कार्य हो तो दोनों में किसी प्रकार का अन्वय या एकता दृष्टिगोचर होनी चाहिये । लेकिन इनमें कोई भी समान धर्म उपलब्ध नहीं होता जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि जड और चेतन एक ही द्रव्य हैं । जड पदार्थ मूर्तिक, स्वसम्वेदन रहित, सदैव ज्ञेय ही रहने वाले तथा इन्द्रिय ग्राह्य होते हैं जबकि चेतना ज्ञान रूप, स्वसंवेदी तथा

---

1. सर्व दर्शन संग्रह, पृष्ठ-4-5

इन्द्रियातीत होती है । रूप, रस, गंध, स्पर्श युक्त जड़ पदार्थ इनकी एक विशेष पर्याय से नष्ट होकर दूसरी विशेष पर्याय से उत्पन्न होते हुए सदैव रूप, रस, गंध, स्पर्श स्वरूप ही रहते हैं । वे इस स्वरूप का परित्याग कर इसके पूर्णतया विरोधी तथा असत् चेतन रूपता को किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं ?[1]

कहा जा सकता है कि कारण से विजातीय कार्य की उत्पत्ति भी देखी जाती है । तेल, बत्ती, दीपक आदि से विजातीय काजल की उत्पत्ति देखी जाती है । प्रभाचन्द्र कहते हैं कि ये पूर्णतया विजातीय नहीं हैं । कारण और कार्य में एक ही पुद्गल द्रव्य विद्यमान है जो रूप, रस, गंध, स्पर्श की एक पर्याय का परित्याग कर दूसरी पर्याय को प्राप्त कर रहा है ।[2] यह नहीं कहा जा सकता कि जड़ और चेतन भी सत्व, द्रव्यत्व आदि की अपेक्षा सजातीय हैं तथा एक सत्ता सामान्य अपने जड़ रूप से नष्ट होकर चेतन रूप से उत्पन्न होती है क्योंकि सत् होना अपने आप में कुछ नहीं होता । एक विशेष स्वरूप-जड़ अथवा चेतन से युक्त पदार्थ ही सत् होता है जो अपने स्वरूप को नहीं छोड़ते हुए एक विशेष पर्याय का परित्याग कर दूसरी विशेष पर्याय को प्राप्त करते हुए सदैव विद्यमान रहता है ।

ज्ञान की सत्ता एक ज्ञान स्वभावी आत्मा के होने पर ही हो सकती है । प्रत्येक द्रव्य का अपना स्वभाव होता है जो निर्हेतुक होने के कारण अनादि अनंत होता है । जड़ और चेतन परस्पर विरोधी होने के कारण एक ही द्रव्य के दो धर्म नहीं हो सकते । यदि जड़ ही चेतन रूप से तथा चेतन जड रूप में परिणत हो तो यह असम्भव है क्योंकि जड़ द्रव्य की विशेष पर्याय समय विशेष में उत्पन्न होने के कारण नाशवान होते हुए भी उसका जड़ता सामान्य रूप स्वभाव शाश्वत् है । इसलिये जड़ द्रव्य सदैव जड ही रहते हैं तथा ज्ञान उनका गुण नहीं हो सकता ।

अकलंक कहते हैं कि चेतना शरीर का धर्म न होकर एक स्वतंत्र द्रव्य है । क्योंकि ये दोनों घर तथा प्रदीप के समान परस्पर स्वतंत्र रूप से प्रतिभासित होते

---

1. तत्वार्थ श्लोक वार्तिक, पृष्ठ-29
2. प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृष्ठ-117

हैं । चेतना स्वसम्वेदन गम्य होती है जबकि शरीर इन्द्रियों द्वारा चेतना से भिन्न रूप से ज्ञात होता है ।[1] यदि कहा जाय कि हमें जिस प्रकार यह प्रतीति होती है कि "मैं सुखी हूँ" उसी प्रकार यह प्रतीति भी होती है कि "मैं मोटा हूँ" जो शरीर और चेतना की एकता की सूचक है, तो यह उचित नहीं है । जिस प्रकार सुख स्वसम्वेदन गम्य होता है उसी प्रकार शारीरिक स्थितियाँ स्वसम्वेदन का विषय नहीं होती । शरीर के प्रति अहं बोध शरीर के प्रति तीव्र राग के कारण होता है । जिस प्रकार पुत्र के प्रति राग भाव के कारण पिता पुत्र के सुख-दुख से सुखी-दुखी होता है, उसी प्रकार व्यक्ति शरीर से राग के कारण उससे तादात्म्य स्थापित कर लेता है ।[2]

यहाँ सहज ही यह प्रश्न उठता है कि ज्ञान जब शरीर का गुण न होकर आत्मा नामक् एक स्वतंत्र द्रव्य का गुण है तो उसकी स्थितियाँ शरीराश्रित क्यों हैं ? जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि हम जो कुछ भी जानते हैं वह हमारे इसी जीवन में प्राप्त अनुभवों पर आधारित होता है । हमें जन्म से पूर्व की कोई स्मृति नहीं होती । हमारा समस्त विषय बोध . इन्द्रियाश्रित होता है । हमारी समझ, स्मरण शक्ति, तर्कणा शक्ति आदि समस्त ज्ञान शक्तियाँ मस्तिष्कीय संरचना पर निर्भर होती है । मस्तिष्क के विभिन्न अंशों को विकृत परिष्कृत कर इन शक्तियों में ह्रास तथा विकास किया जा सकता है । यदि ज्ञान शरीर का गुण नहीं है तो शारीरिक स्थितियों का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये ।

जैन दार्शनिक कहते हैं कि ज्ञान आत्मा का स्वभावहोने के कारण मुक्तावस्था में शरीर निरपेक्ष रूप से अस्तित्व रखता है लेकिन (संसारी अवस्था में उसकी ज्ञान क्षमता में कर्मों से आवृत होकर मंद हो जाने के कारण वह शरीर की सहायता से पदार्थों को जानता है)। जिस प्रकार निरोगावस्था में नेत्र अन्य निरपेक्ष रूप से पदार्थों को देखते

----

1. न्याय विनिश्चय, 2174
2. प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृष्ट -112

हैं लेकिन उनकी शक्ति के मंद हो जाने पर देखने के लिये ऐनक आदि अन्य पदार्थों की सहायताकी आवश्यकता होती है तथा यदि नेत्रों में देखने की क्षमता पूर्णतया समाप्त हो गयी हो तो समस्त उपकरण निरर्थक हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा मुक्तावस्था में स्वभावत: समस्त पदार्थों को जानता है । आत्मा शरीर से स्वतंत्र द्रव्य है जो ज्ञप्ति क्रिया का कर्ता है । संसारीअवस्था में उसकी ज्ञान शक्ति के मंद हो जाने के कारण इन्द्रियादि के आलम्बन की आवश्यकता होती है तथा यदि व्यक्ति मे किसी विषय को जानने की क्षमता का पूर्ण अभाव हो तो उस विषय का ज्ञान उत्पन्न करने में इन्द्रियाँ अकिंचित्कर हैं । शरीर के भिन्न भिन्न अंग ज्ञान के भिन्न भिन्न उपकरण हैं तथा साधनों की श्रेष्ठता मंदता का कार्य की श्रेष्ठता पर प्रभाव अवश्यम्भावी होने से व्यक्ति की शारीरिक स्थितियों से उसके ज्ञान की स्थितियाँ प्रभावित होती हैं लेकिन इस प्रभाव के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि शरीर ही ज्ञाता है । शरीर का ज्ञप्ति क्रिया के साधन रूप में अस्तित्व उससे स्वतंत्र ज्ञाता आत्मा की सत्ता सिद्ध करता है।

आत्मा के प्रति ज्ञान की स्वाभाविकता तथा अज्ञान की आगन्तुकता की सिद्धि

प्रश्न उठता है कि ज्ञान को आत्मा का स्वाभाविक गुण किस प्रकार कहा जा सकता है ? स्वभाव अन्य निरपेक्ष तथा इसलिये शाश्वत होता है और कोई भी वस्तु पर सापेक्ष रूप से ही - इन्द्रिय तथा मन के द्वारा ही ज्ञात हो सकती है । इसलिये नैयायिक कहते हैं कि ज्ञान आत्मा का आगन्तुक गुण हैं । आत्मा स्वभावत: ज्ञान रहित है । विषय का इन्द्रिय से तथा मन का इन्द्रिय तथा आत्मा से संयोग होने पर ही आत्मा मे ज्ञानोत्पत्ति होती है ।[1] उदाहरण के लिये घट का चक्षु से तथा मन का चक्षु तथा आत्मा से सयोग होने पर ही आत्मा में घट ज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है । स्मृति पूर्वक घट का ज्ञान मन का आत्मा से संयोग होने पर ही हो

---

1. आत्मेन्द्रिय मनोऽर्थ सन्निकर्षायन्निष्पद्यते 3/1/18 वैशेषिक सूत्र

सकता है । मुक्तावस्था, निद्रा तथा मूर्छा आदि स्थितियों में आत्मा मन से असंयुक्त होने के कारण पूर्णतया ज्ञान रहित होता है ।

जैन दार्शनिक ज्ञान को आत्मा का स्वाभाविक गुण मानकर लाइबनीज के समान यह नहीं मानते कि आत्मा में समस्त ज्ञान संचित है तथा वह अपने से बाहर स्थित किसी वस्तु को न जानकर अपने अंदर संचित ज्ञान की विभिन्न पर्यायों को ही जानता है । जैन दार्शनिकों के अनुसार कोई भी पदार्थ अनुभव द्वारा ही ज्ञात हो सकता है, यद्यपि अनुभव इन्द्रियानुभव तक ही सीमित नहीं है । समस्त ज्ञान दर्शन पूर्वक होता है तथा श्रुतज्ञान मति ज्ञान पूर्वक । अवधि, मनपर्यय तथा केवल ज्ञान आत्मा सापेक्ष होते हैं लेकिन इनमें भी विषय चेतना की बहिर्मुखी वृत्ति द्वारा ही ज्ञात होता है ।

ज्ञान को आत्मा का स्वाभाविक गुण कहने का अभिप्राय है कि आत्मा में विषय ग्रहण की स्वाभाविक क्षमता है तथा वह उपयोगमय है – सदैव किसी न किसी विषय पर केन्द्रित होना, उसे जानने के लिये प्रवृत्त होना आत्मा का स्वभाव है तथा इन दो विशेषताओं के कारण ही आत्मा किसी विषय को जानता है ।

निष्क्रिय तथा अचेतन आत्मा में इन्द्रिय तथा मन के संयोग मात्र से ज्ञानोत्पत्ति नहीं हो सकती, बल्कि चेतन आत्मा अपनी क्षमता के अनुसार जब जिस पदार्थ को, पदार्थ के जिस पक्ष को जानने के लिये प्रवृत्त होता है, उसे जानता है । निद्रा, मूच्छा आदि स्थितियों में आत्मा के बाह्य पदार्थों को जानने के प्रयत्न समाप्त हो जाते हैं इसलिये वह उन्हें नहीं जान पाता । जागृत अवस्था में भी एक साथ कई इन्द्रियां अपने विषयों से सम्बद्ध होती हैं लेकिन ज्ञान उसी इन्द्रिय के विषय का होता है जिस पर व्यक्ति अपनी चेतना को केन्द्रित करता है ।[1] नैयायिक कहते हैं कि निद्रा, मूर्च्छा आदि स्थितियों में मन आत्मा से असंयुक्त होता है इसलिये उस

----

1. तत्वार्थ श्लोक वार्तिक 1/9/47

समय पदार्थ ज्ञात नहीं होते। मन के अणु रूप होने के कारण जागृत अवस्था में वह जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होता है उस समय उसी इन्द्रिय के विषय का ज्ञान होता है, अन्य इन्द्रियों के विषय का नहीं। जैन दार्शनिक कहते हैं कि जब आत्मा विभु रूप है तो वह कभी भी मन से असंयुक्त किस प्रकार हो सकता है? वास्तव में आत्मा और पुद्गल द्रव्यों से स्वतंत्र किसी मन नामक द्रव्य की सत्ता ही नहीं है। (नो-इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से आत्मा में ही शिक्षा, चिन्तन, आदि कार्यों की सामर्थ्य पैदा हो जाती है जिन्हें वह पुद्गल द्रव्यों से निर्मित द्रव्य मन के आलम्बन से करता है)।[1]

जीव के लिये ज्ञान आगन्तुक न होकर अज्ञान आगन्तुक है। वह एक चेतन द्रव्य है जो स्वपर प्रकाशन की स्वाभाविक सामर्थ्य से युक्त है। चेतना अपनी पूर्ण विशुद्ध अवस्था में समस्त ज्ञेय पदार्थों को जानने की क्षमता से युक्त होती है लेकिन ज्ञानावरणीय कर्म से सम्बद्ध होने पर उसकी यह क्षमता लुप्त हो जाती है।[2] ज्ञानावरणीय"शब्द का अर्थ है जो ज्ञान को आवृत करे, आच्छादित करे। जिस प्रकार देवता के मुख पर पड़ा वस्त्र देवता का ज्ञान नहीं होने देता, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म भी वस्तु को ज्ञात नहीं होने देता।[3] ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से व्यक्ति में ज्ञान सामर्थ्य लुप्त हो जाती है। वह स्मृति शून्य तथा ज्ञानार्जन के प्रति निरुत्सुक हो जाता है।[4] जिस आत्मा में ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है वही विषय ग्रहण हेतु प्रवृत हो सकता है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम का अर्थ है - ज्ञान को आवृत करने वाले कर्मों के कुछ अंश का नाश तथा कुछ अंश का उपशांत रहना। इसका उदय होने पर वह मृत, मूच्छित के समान ही विषय को जानने

---

1. तत्वार्थ वार्तिक, पृष्ठ-472
2. अष्ट सहस्त्री : पृष्ठ-113
3. गोम्मट सार - कर्मकाण्ड, भाग-1, पृष्ठ10
4. तत्वार्थ वार्तिक, पृष्ठ-571

के लिये प्रवृत्त होने में समर्थ नहीं है ।[1] जितने ज्ञेय पदार्थ हैं उतनी ही उनके ज्ञान को आवृत करने वाली कर्म प्रकृतियाँ हैं । जितने अंशों में ज्ञानावरणीय कर्म का अभाव होता है, उतने अंशों में जीव की ज्ञान सामर्थ्य प्रकट होती है जिसके सद्भाव में जानने के लिये प्रवृत्त होकर ही जीव किन्हीं विषयों को जान सकता है)।

जीव के लिये ज्ञान-शक्ति का अभाव आगन्तुक है । जिस प्रकार अपनी प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति यथार्थ - अयथार्थ के विवेक से युक्त होता है लेकिन मद्यपान के सेवन से उसका यह विवेक लुप्त हो जाता है उसी प्रकार अपनी प्राकृतिक स्थिति में जीव सब कुछ को जानने में समर्थ होता है तथा ज्ञानावरणीय कर्म का उदय उसकी इस क्षमता को लुप्त कर देता है । जिस प्रकार समय के साथ साथ नशा उतरने के साथ ही व्यक्ति पुनः वस्तुओं को यथार्थतः जानने लग जाता है उसी प्रकार समय के साथ साथ ज्ञानावरणीय कर्म के फल देने की क्षमता समाप्त होने के साथ ही जीव की ज्ञान सामर्थ्य स्वतः प्रकट हो जाती है ।

यदि जीव में स्वाभाविक ज्ञान सामर्थ्य तथा उसके प्रतिबन्धकों के सद्भाव से उत्पन्न विचित्रता को स्वीकार नहीं किया जाय तथा इन्द्रिय, मन तथा पदार्थ के आत्मा से संयोग रूप सहकारी कारण को ही आत्मा में ज्ञानोत्पत्ति का एकमात्र कारण माना जाय तो समान वस्तु का प्रत्यक्ष करने वाले विभिन्न व्यक्तियों को समान ज्ञान होना चाहिये । उदाहरण के लिये दो व्यक्ति एक ही कला को सीखना प्राप्त करते हैं, एक बहुत जल्दी उसमें दक्षता प्राप्त कर लेता है जबकि दूसरा बहुत प्रयत्न करने पर भी कुछ नहीं सीख पाता । कई व्यक्ति एक ही पद को सुनते हैं, एक कुछ नहीं समझता, दूसरा मात्र शब्दार्थ समझ पाता है तथा तीसरा उसके गहरे अर्थ लगाता है । ज्ञान की इस विचित्रता की व्याख्या इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष मात्र के

----

1. सिद्धि विनिश्चय टीका, पृष्ठ-270

आधार पर नहीं की जा सकती । इसके लिये व्यक्तियों में विषय ग्रहण सामर्थ्य के अंतर को स्वीकार करना आवश्यक है। व्यक्ति का ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम जितना तीव्र होता है वह उस पदार्थ को उतना ही अधिक जान सकता है तथा इसका पूर्ण क्षय होने पर पदार्थ को सम्पूर्णत: जाना जा सकता है ।

कहा जा सकता है कि व्यक्तियों के ज्ञान में अंतर का कारण उनकी योग्यता का अंतर है लेकिन यह योग्यता किन्हीं आवरण कर्मों के क्षय से उत्पन्न न होकर पूर्वानुभवों के संस्कारों से उत्पन्न होती है तथा इसलिये यह प्रागानुभविक-स्वभाविक न होकर आनुभाविक तथा इसलिये आगन्तुक है । एक बच्चा विज्ञान की जटिल समस्याओं को समझने में असमर्थ होता है लेकिन वही निरंतर अभ्यास पूर्वक उसमें दक्ष हो जाता है । किसी भी विषय की सूक्ष्म विशेषताओं को समझने की क्षमता निरंतर अभ्यास पूर्वक ही उत्पन्न होती है जो ज्ञान शक्ति की आगन्तुकता को सिद्ध करती है ।

जैन दार्शनिक इस बात को स्वीकार करते हैं कि ज्ञान लब्धि-अर्थ ग्रहण शक्ति के सद्भाव मात्र से उत्पन्न नहीं होता अपितु उपयोग पूर्वक होता है तथा वस्तु के विशेष धर्मों को सामान्य धर्मों के ज्ञान पूर्वक ही जाना जा सकता है । व्यक्ति निरंतर अनुभव पूर्वक ही किसी वस्तु को और अधिक स्पष्ट रूप से जान सकता है लेकिन उसके ज्ञान के विकास की सम्भावनाएं अनुभव द्वारा निर्धारित न होकर तद्विषयक आवरण कर्मों के क्षयोपशम से नियमित होती हैं । ज्ञान आवरण कर्मों की हानि की सीमा तक ही विकसित हो सकता है तथा ज्ञानावरणीय कर्म का उदय प्राप्त होने के साथ ही रूक जाता है । ईहा की उत्पत्ति अवग्रह पूर्वक ही हो सकती है लेकिन यह तभी सम्भव है जब कि व्यक्ति के ईहा ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हो । मक्खी आदि चतुरिन्द्रिय जीवों में इस कर्म का उदय होने के

कारण उनका ज्ञान अवग्रह तक ही सीमित रहता है जब कि मनुष्य में ईहा ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने के कारण अवगृहीत अर्थ के प्रति ईहा हो सकती है । स्मृति उसी वस्तु की हो सकती है जिसे व्यक्ति द्वारा पूर्व में जाना गया हो । लेकिन किसी वस्तु का प्रत्यक्ष हो जाने मात्र से यह निर्धारित नहीं हो जाता कि उसकी भविष्य में स्मृति भी होगी । व्यक्ति ज्ञात पदार्थ का कितने अंशों में तथा कितने समय बाद तक स्मरण कर सकता है यह उसके स्मृति ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम पर निर्भर करता है । प्रत्येक अनुभव स्वयं तक ही सीमित होता है तथा उसमें किसी अन्य ज्ञान को उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है । वह अनुभव स्वयं भी व्यक्ति में स्वाभाविक अर्थ ग्रहण सामर्थ्य के सद्भाव में ही उत्पन्न हो सकता है । उसके अभाव में व्यक्ति पदार्थों का साक्षात्कार मात्र ही करता रहेगा, जान नहीं सकता ।

व्यक्ति के प्रयत्नों से उसकी ज्ञान शक्ति में वृद्धि भी होती है लेकिन यह पुनः इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष मात्र से न होकर जानने के प्रति रूचि तथा उत्साहपूर्वक किये गये प्रयत्नों से होती है । ज्ञान हेतु प्रयत्न जितने तीव्र उत्साह के साथ किये जाते हैं वे व्यक्ति की ज्ञान शक्ति को उतना अधिक जागृत करते हैं । प्रभाचन्द्र कहते हैं, " ज्ञानावरणीय कर्म के प्रतिपक्षभूत अंतरंग कारण सम्यकदर्शनादि तथा बहिरंग कारण अभ्यासादि हैं ।[4] व्यक्ति के प्रयत्नों से नवीन ज्ञान सामर्थ्य की उत्पत्ति नहीं होती बल्कि द्रव्यापेक्षया सत् तथा पर्यायापेक्षया असत् ज्ञान सामर्थ्य की उत्पत्ति होती है)। जिस प्रकार जलते हुए कोयलों पर राख डाल देने से उनकी उष्णता मंद हो जाती है तथा जिस स्थान पर जितने अंशों में राख का अभाव होता है वहाँ सुप्त रूप से विद्यमान सामर्थ्य ही प्रकट होती है उसी प्रकार प्रत्येक जीव में सम्पूर्ण रूप से समस्त पदार्थों को जानने की क्षमता प्रतिबन्धकों के सद्भाव में अभिव्यक्त नहीं

---

4. प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृष्ठ-241

हो पाती तथा विशुद्ध परिणामों के साथ जानने के लिये किये गये प्रयत्नों से सुप्त रूप से विद्यमान क्षमता ही प्रकट होती है ।

व्यक्ति की विषयग्रहण सामर्थ्य के लुप्त होने का कारण उसके ज्ञान, ज्ञानियों तथा ज्ञान के साधनों के प्रति उपेक्षा तथा अनादर से युक्त आत्म परिणाम हैं । ज्ञानावरणीय कर्म के बंध के कारणों का नामोल्लेख करते हुए उमास्वामी कहते हैं, "ज्ञान में प्रदोष, निन्हव, मात्सर्य, आसादन, अन्तराय तथा उपघात ज्ञानावरणीय कर्म के बंध के कारण हैं ।[1] इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए अकलंक कहते हैं, " ज्ञान कथा के समय मुँह से कुछ न कहकर भीतर ही भीतर ईर्ष्या के परिणाम होना प्रदोष है । किसी बहाने से "नहीं है", नहीं जानता" इत्यादि रूप से ज्ञान का लोप करना निन्हव है । देने योग्य ज्ञान को किसी बहाने से न देना मात्सर्य है । कलुषता से ज्ञान का व्यवच्छेद करना अन्तराय है । दूसरे के द्वारा प्रकाशित ज्ञान का वर्णन करना आसादन है । बुद्धि तथा हृदय की कलुषता से प्रशस्त ज्ञान में दूषण लगाना उपघातहै ।" आसादन में विद्यमान ज्ञान का विनय प्रकाशन, गुण कीर्तन आदि न करके अनादर किया जाता है तथा उपघात में ज्ञान को अज्ञान ही कहकर ज्ञान का नाश किया जाता है ।[2] ज्ञानावरणीय कर्म के बन्ध के अन्य कारणों का वर्णन करते हुए वे कहते है कि आचार्य तथा उपाध्याय के प्रतिकूल चलना, अकाल अध्ययन, अभ्यास में आलस्य करना, अनादर से अर्थ सुनना, स्वपक्ष का दुराग्रह, शास्त्र विक्रय आदि ज्ञानावरणीय कर्म के बंध के कारण हैं ।[3] व्यक्ति उपर्युक्त कार्यों को जितनी तीव्र कषाय से युक्त होकर करता है उसके ज्ञानावरणीय कर्म का उतना ही दीर्घ कालिक तथा तीव्र फल देने की क्षमता से युक्त बंध होता है ।

---

1. तत्वार्थ सूत्र 6/10
2. तत्वार्थ वार्तिक पृष्ठ-713
3. वही, पृष्ठ-714

(आत्मा की उन समस्त पर्यायों में, जो पदार्थों को जानने के प्रति अरूचि तथा उपेक्षा से युक्त होती है, ज्ञानावरणीय कर्म का निरंतर बंध होता रहता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद तथा कषाय से युक्त आत्मपरिणामों में ज्ञान के प्रति एक सहज उपेक्षा का भाव होता है। ये भाव जितने अधिक तीव्र होते हैं, व्यक्ति में ज्ञान के प्रति अरूचि उतनी ही तीव्र होती है। इनकी तीव्रता की मात्रा के अनुसार ज्ञानावरणीय कर्म का बंध निरंतर होता रहता है। दसवें गुणस्थान तक कषाय का सूक्ष्मतम अंश विद्यमान रहता है तथा उसकी मात्रा के अनुसार दसवें गुणस्थान तक ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता रहता है।)[1]

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद तथा कषाय से युक्त आत्मपरिणाम संक्लेश परिणाम कहलाते हैं तथा इनकी तीव्रता की मात्रा के अनुसार ज्ञानावरणीय कर्म का तीव्र मंद बंध होता है। (पंच संग्रहकार कहते हैं, " विशुद्ध परिणामों से अशुभ कर्म प्रकृतियों का जघन्य बंध तथा शुभ कर्म प्रकृतियों का उत्कृष्ट बंध होता है। इसके विपरीत सक्लेश परिणामों से अशुभ कर्म प्रकृतियों का उत्कृष्ट बंध तथा शुभ कर्म प्रकृतियों का जघन्य बंध होता है।[2] ज्ञानावरणीय कर्म एक अशुभ कर्म प्रकृति है।[3] व्यक्ति की आंतरिक स्थितियाँ मात्र कर्म के स्थिति बन्ध (कितने समय तक कर्म आत्मा से सम्बद्ध रहेगा) तथा अनुभाग बंध (जिसके द्वारा कर्मों में न्युनाधिक फल देने की क्षमता उत्पन्न होती है) को ही नियत नहीं करती अपितु ये कर्मोदय काल (जिस समय कर्म का फल भोग हो रहा है) में भी कर्मों के फल देने की क्षमता को प्रभावित करती हैं। (अकलंक कहते है, कि कर्म अपना फल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के अनुसार देते हैं। शुभ परिणामों की प्रकर्षता मे शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट तथा अशुभ कर्म प्रकृतियों का निकृष्ट तथा अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभव होता है।[4] कर्मों का फल देना ही अनुभव है।[5]

---

1. पंच संग्रह, पृष्ठ-300
2. पंच संग्रह, पृष्ठ-265
3. पंच संग्रह, पृष्ठ-276 (4) तत्त्वार्थ वार्तिक पृष्ठ-583 (5) विपाकोऽनुभवः-तत्त्वार्थ सूत्र 8/21

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद तथा कषाय से युक्त आत्म परिणामों का सद्भाव ज्ञान के प्रति आन्तरिक अरूचि का द्योतक है तथा इनकी तीव्रता के सद्भाव में ज्ञानावरणीय कर्म का तीव्र उदय होता है । इनके अभाव के साथ ही साथ चेतना निर्मल होती जाती है तथा उसकी विषय प्रकाशन की क्षमता तीव्र होती जाती है। मिथ्यात्व के सद्भाव में व्यक्ति को अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य मय स्वरूप तथा ज्ञान के सुखात्मक स्वरूप की प्रतीति न होकर बाह्य वस्तुओं में इष्टता अनिष्टता की प्रतीति होती है जिसके कारण वह विषय की गहराई में जाने के प्रति निरूत्सुक हो जाता है तथा उसकी रूचि इष्ट प्राप्ति तथा अनिष्ट परिहार के साधनों तक ही सीमित हो जाती है । हिंसादि अव्रत तथा इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति, निद्रा आदि प्रमाद में जागरूकता, सम्वेदनशीलता का अभाव, होता है तथा व्यक्ति की दृष्टि भोग परक होती है । इनके होने पर इष्ट- अनिष्ट संयोग वियोग के सद्भाव अभाव में व्यक्ति क्रोधादि कषायों से युक्त होता है । व्यक्ति के मिथ्यादृष्टि होने पर तथा इच्छाओं, वासनाओं तथा आवेश की तीव्रता में ज्ञान के प्रति एक सहज अरूचि होती है । इनकी ~~तीव्रता~~ मन्दता चेतना की निर्मलता की स्थिति को निर्धारित करती है तथा उसके अनुसार ही व्यक्ति की ज्ञान शक्ति जागृत होती जाती है ।

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि स्वार्थ, क्रूरता, विषयासक्ति आदि दुर्गुणों से व्यक्ति की ज्ञान शक्ति लुप्त होती है तथा प्रेम, दया आदि के सद्भाव तथा क्रोधादि आवेशों पर नियंत्रण से व्यक्ति की समझने की क्षमता में वृद्धि होती है । इसलिये विद्यानंदि कहते हैं कि जीव के लिये अज्ञान आगन्तुक तथा ज्ञान स्वाभाविक है । अज्ञान की आगन्तुकता के लिये युक्ति देते हुए वे कहते हैं, " जो जहाँ आगन्तुक होता है वह वहाँ अपनी हानि के कारणों में वृद्धि के साथ साथ ही नाश को प्राप्त होता हुआ देखा जाता है, जिस प्रकार कि उत्कृष्ट स्वर्ण में ताम्बे आदि के संयोग से होने वाली कालिमा आदि । अज्ञानादि आगन्तुक तथा इसलिये आकस्मिक हैं

क्योंकि आत्मा में सम्यग्दर्शनादि की वृद्धि के साथ ही साथ अज्ञान का अभाव होता जाता है ।[1]

प्रत्येक जीव स्वभावतः सर्वज्ञत्व शक्ति से युक्त है । उसके अज्ञान का मूल कारण उसकी ज्ञान सामर्थ्य कप्रतिबंधक ज्ञानावरणीय कर्म है । नाश के कारणों का सद्भाव होने पर जैसे जैसे ये कर्म नष्ट होते जाते हैं जीव की ज्ञान सामर्थ्य जागृत होती जाती है तथा इनके पूर्णरूपेण क्षय हो जाने पर जीव की अनंत ज्ञान सामर्थ्य प्रकट हो जाती है । इसका सद्भाव होने पर अपने अंनतवीर्यमय स्वभाव तथा उपयोगमय स्वभाव के कारण जीव सर्वज्ञ हो जाता है । वह इन्द्रिय, मन, आदि किसीभी बाह्य पदार्थ की सहायता लिये बिना समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को युगपत् जानता है ।

मीमांसक कहते हैं कि आत्मा में स्वाभाविक ज्ञान सामर्थ्य है लेकिन वह किसी वस्तु को इन्द्रिय और मन द्वारा ही जान सकता है । मुक्तावस्था में विषय ग्रहण सामर्थ्य होते हुए भी इन्द्रिय और मन का अभाव होने के कारण उसे कोई विषय ज्ञात नहीं होता ।

(जैन दार्शनिक कहते है कि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है । जो स्वाभाविक होता है वह अन्य निरपेक्ष तथा शाश्वत होता है और उसकी अभिव्यक्ति के लिये सहकारी कारणों की कोई आवश्यकता नहीं होती । जिस प्रकार सूर्य प्रकाशन स्वभाव से युक्त है इसलिये उसे विश्व को प्रकाशित करने के लिये किसी अन्य पदार्थ की सहायता की आवश्यकता नहीं है उसी प्रकार ज्ञान स्वभावी आत्मा को भी विषय को जानने के लिये इन्द्रिय, मन आदि बाह्य पदार्थों की सहायता की कोई आवश्यकता नहीं है । संसारी अवस्था में इन्द्रिय और मन का ज्ञान के सहकारी कारण रूप से सद्भाव कर्म कृत होने के कारण एक आगन्तुक घटना है ।

1. अष्ट सहस्त्री पृष्ठ-54

ज्ञानोत्पत्ति का अनिवार्य कारण है व्यक्ति की जानेने की क्षमता । इन्द्रिय और मन द्वारा भी व्यक्ति विषय को इसी लिये जान पाता है कि उसमें इस प्रकार की योग्यता है । प्राणी में इन्द्रियों का निर्माण ही उसकी ज्ञान शक्ति के विकास के अनुसार होता है । एकेन्द्रिय प्राणी में मात्र स्पर्श को ही ग्रहण करने की सामर्थ्य होती है, रसादि को ग्रहण करने की नहीं; अतः उसमें मात्र स्पर्शेन्द्रिय का ही निर्माण होता है, चक्षु आदि का नहीं, । पौद्गलिक इन्द्रियो का निर्माण होने पर भी व्यक्ति उनके द्वारा अपनी आन्तरिक योग्यता के अनुसार ही विषय को जानता है तथा पौद्गलिक इन्द्रियों के यथावत् रहने पर भी उसकी आंतरिक शुद्धि जन्य योग्यता में हानिवृद्धि की मात्रा के अनुसार विषय बोध की स्पष्टता में अंतर आ जाता है । इस प्रकार व्यक्ति इन्द्रिय और मन द्वारा विषय को इसलिये जानता है कि उसमें इस प्रकार की योग्यता है । यदि उसमें अतीन्द्रिय रूप से विषय को जानने की क्षमता हो तो वह उसे क्यों नहीं जान सकता ।

सर्वज्ञता की सिद्धि के लिये युक्ति प्रस्तुत करते हुए अकलंक कहते हैं कि ज्ञानावरणीय कर्मों का पूर्णरूपेण क्षय होने पर आत्मा समस्त पदार्थों को जानने में समर्थ है । संसारी जीवों के ही जिन आत्म प्रदेशों में रूपादि ज्ञान के प्रतिबंधक कर्मों के अभाव रूप आंशिक शुद्धि उत्पन्न होती है उन आत्म प्रदेशों में चक्षुरादि भावेन्द्रियों का निर्माण होता है जिनकी कर्माभाव जन्य शुद्धि की न्युनाधिकता के अनुसार रूपादि विषयन्युनाधिक रूप से ज्ञात होते हैं । तब आत्मा के समस्त आवरण कर्मों का पूर्णरूपेण क्षय हो जाने पर ; इन्द्रिय निरपेक्ष रूप से ; भूत, भविष्य, वर्तमान कालीन समस्त पदार्थों का साक्षात्कार होने में क्या विरोध है ।[1]

कुमारिल कहते हैं कि ज्ञान में विद्यमान अतिशय के आधार पर सर्वज्ञता को सिद्ध नहीं किया जा सकता । ज्ञान के उपकरण इन्द्रिय और मन हैं । प्रत्येक इन्द्रिय का अपना नियत विषय और निश्चित सीमा होती है । तथा ज्ञान का अतिशय उसकी सामर्थ्य के अंतर्गत ही हो सकता है । वह अपने स्वार्थ की सीमा को नहीं लाध

---

1. न्याय विनिश्चय 2/191 -194

सकता । आँख से कितनी दूर की वस्तु को देखा जा सकता है अइसकी एक सीमा है तथा उस सीमा का उल्लंघन करके अत्याधिक दूर पड़ी हुई सुई को देखा जा सके यह सम्भव नहीं है । इसी प्रकार ज्ञान के विकास की चरम परिणति सर्वज्ञता ही हो यह अनिवार्य नहीं है ।[2]

गुणरत्न कहते हैं कि पदार्थ के दो प्रकार के धर्म होते हैं - स्वाभाविक तथा आगन्तुक । स्वाभाविक धर्मो का ही अभ्यास के द्वारा पूर्ण विकास होता है । जो धर्म अन्य सहकारियों की सहायता से उत्पन्न हुए हैं उनके प्रकर्ष का कोई नियम नहीं है । इन्द्रियों में ज्ञान का उपकरण बन सकने की क्षमता योग्यता विशेष से युक्त आत्मा से संयुक्त होने के कारण उत्पन्न होती है इसलिये उसकी सीमा निश्चित है लेकिन आत्मा में जानने की क्षमता पर हेतुक न होकर स्वाभाविक है । जिस प्रकार सुवर्ण को तपाने से उसमें जो शुद्धि आती है वहउसका स्वाभाविक धर्म है, अत: उसकी सीमा सौ 'टंची सोने में परिणत हो जाती है उसी प्रकार ज्ञान आत्मा का निजी धर्म है । अत: वह अपने आश्रय आत्मा में विशेषता उत्पन्न करता है तथा सतत् अभ्यास और ध्यानादि के द्वारा क्रमिक विकास को प्राप्त करता हुआ अंत में समस्त जगत का साक्षात्कार करने वाला हो जाता है ।[1]

आधुनिक युग में वैज्ञानिक प्रगति के कारण मानवीय ज्ञान का विकास कल्पनातीत रूप से हुआ है । आजसे दो सौ साल पहले ऐन्द्रियिक ज्ञान के विकास की सम्भावनाएँ बहुत सीमित दृष्टिगोचर होती थी लेकिन वैज्ञानिक विकास ने पुद्गल के क्षेत्र में ज्ञान के विकास की असीम सम्भावनाओं को उद्घाटित किया है । लेकिन ज्ञान का यह विकास, विकास की समस्त सम्भावनाएँ ऐन्द्रियिक ज्ञान के क्षेत्र में ही हैं तथा अतीन्द्रिय ज्ञान की सम्भावना भी सन्देहास्पद स्थिति में है ।

----

1. षट् दर्शन समुच्चय, पृष्ठ-192
2. श्लोक वार्तिक, पृष्ठ-128

(हमारा समस्त ज्ञान इन्द्रियाश्रित है तथा हमें अतीन्द्रियज्ञान का एक भी दृष्टान्त अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ इस आधार पर अतीन्द्रिय ज्ञान को असंभव नहीं कहा जा सकता। यद्यपि अतीन्द्रिय ज्ञान हमें एक आश्चर्य और इसलिये असंभव लगता है लेकिन अतीन्द्रिय ज्ञान ही नहीं, ऐन्द्रियिक ज्ञान भी एक आश्चर्य है । जो व्यक्ति जन्मांध है उसके लिये रस, गंध, स्पर्श और शब्द से विलक्षण रंग, प्रकाशादि के ज्ञान की बात एक आश्चर्य एक असम्भव घटना है लेकिन एक नेत्रों से युक्त व्यक्ति के लिये यह एक तथ्य है । ऐन्द्रियिक ज्ञान के क्षेत्र में भी कई समस्याएँ हैं । हम यह नहीं समझ पाते कि अमूर्त आत्मा मूर्त इन्द्रियों से किस प्रकार सम्बद्ध हो सकता है तथा उनके द्वारा विषय को किस प्रकार जान सकता है । इन समस्याओं के होते हुए भी हम इसकी सत्ता का निषेध नहीं कर सकते । उसके अस्तित्व की व्याख्या आत्मा में विद्यमान ज्ञान सामर्थ्य के आधार पर ही की जा सकती है तथा इसी आधार पर अतीन्द्रिय ज्ञान की सम्भावना भी सिद्ध होती है ।

(किसी भी विषय का ज्ञान स्वाभाविक ज्ञान सामर्थ्य और उपयोगमय स्वभाव से युक्त आत्मा को ही हो सकता है । आत्मा की ये विशेषताएँ स्वाभाविक होने के कारण शाश्वत हैं तथा अपनी अभिव्यक्ति के लिये किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखतीं । इसलिये आत्मा किसी भी क्षण ज्ञान रहित नहीं होता तथा मुक्तावस्था में शरीर रहित होने पर अपने ज्ञान स्वभाव के कारण समस्त ज्ञेय पदार्थों को जानता रहता

अध्याय - दो

ज्ञान की स्वपर प्रकाशकता

प्रत्येक ज्ञान के दो अनिवार्य घटक होते हैं - विषयाकारता या ग्राह्याकारता तथा स्वसम्वेदन या ग्राहकाकारता । ये दोनों धर्म परस्पर अविनाभावी हैं तथा एक को अस्वीकार करने पर दूसरे की व्याख्या नहीं की जा सकती । "ज्ञान" सदैव किसी विषय का ज्ञान होता है । जानना और जानने का विषय नहीं होना दो विरोधी बाते हैं । साथ ही यह कहना भी कोई अर्थ नहीं रखता कि विषय तो ज्ञात हो रहा है पर विषय ज्ञान अज्ञात है ।

कोई भी व्यक्ति अपने ज्ञान से बाहर जाकर विषय को नहीं जान सकता । वह सदैव बाह्य जगत के परिचय के लिये अपने ज्ञान पर निर्भर रहता है ।

अपने से भिन्न समस्त वस्तुओं के सम्बंध में हमारे समस्त निर्णय ज्ञान पर आधारित होने के कारण विज्ञानवादी मानते हैं कि ज्ञेय की सत्ता ज्ञानाश्रित है । हमें कभी भी ज्ञान से स्वतंत्र ज्ञेय की उपलब्धि नहीं होती इसलिये ज्ञेय के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करने का हमारे पास कोई आधार नहीं है । दूसरे शब्दों में अनुभूति से स्वतंत्र सत्ता का अभाव है । योगाचार दार्शनिक कहते हैं कि ज्ञान और ज्ञेय की सदैव साथ साथ उपलब्धि होती है । ज्ञेय कभी भी ज्ञान के अभाव में उपलब्ध नहीं होता । इसलिये इन दोनों मे तादात्म्य सबंध है तथा ज्ञान मात्र ही सत् है ।[1]

विज्ञानवादी बौद्धों का यह दावा कि, ज्ञान मात्र ही सत् है तथा बाह्य जगत का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि हमें ज्ञान से भिन्न किसी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती, वस्तुवादियों के लिये एक चुनौती बना रहा है और

---

1. प्रमाण वार्तिक 2139 ।

ऐसा लगता है कि विज्ञानवादियों का ही सामना करने के लिये नैयायिकों और मीमांसकों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि ज्ञान मात्र अपने विषय का ही ज्ञापक होता है स्वयं का नहीं । ज्ञान अन्य ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है पर वह स्वयं अपना विषय कभी नहीं हो सकता । जैन दार्शनिक कहते हैं कि प्रत्येक ज्ञान स्व-पर प्रकाशक होता है ।[1]

ज्ञान विषय प्रकाशन रूप होता है तथा विषय को जानने के साथ ही साथ अपने विषय ग्रहण रूप स्वभाव को भी जानता है । पर सम्वेदन "यह घट है" तथा स्वसंवेदन" मैं इस घट को जान रहा हूँ" ये दोनों प्रत्येक ज्ञान के अनिवार्य पक्ष हैं तथा अस्तित्व की दृष्टि से परस्पर सापेक्ष हैं । इनमें से एक का निषेध करने पर दूसरे का विधान करना असम्भव है । ज्ञान को मात्र पर प्रकाशक मानने पर उसकापर प्रकाशकत्व भी सिद्ध किया जाना असम्भव है क्योंकि जब तक विषय बोध ज्ञात नहीं हो विषय को "ज्ञात" किस प्रकार कहा जा सकता है । जब तक यह ज्ञात नहीं हो कि "घट ज्ञात" हुआ है तब तक घट को ज्ञात किस प्रकार कहा जा सकता है ? इसी प्रकार ज्ञान को मात्र स्वसंवेदी मानने पर उसकी पर संवेदनता का निषेध भी नहीं किया जा सकता । ज्ञान सदैव अपने से भिन्न किसी अर्थ को जानता हुआ ही उत्पन्न होता है । वहहमें बाह्य अर्थ का परिचय देता है तथा जिस प्रकार ज्ञान से बाहर जाकर बाह्य अर्थ को सिद्ध नहीं किया जा सकता उसी प्रकार ज्ञान से बाहर जाकर बाह्य अर्थ की सत्ता का निषेध भी नही किया जा सकता ।

ज्ञान की स्वसंवेदनता :-

क्या यह ज्ञात हुए बिना कि किस वस्तु का ज्ञान हुआ है, विषय को ज्ञात कहा जा सकता है ? इस प्रश्न का सर्व सम्मत उत्तर होगा - नहीं । लेकिन दार्शनिकों के लिये इस प्रश्न का उत्तर काफी विवादास्पद रहा है और इस विवाद का आधार है सामान्य तथा विभिन्न कारकों की परस्पर भिन्न रूप से उपलब्धि ।

---

1. ज्ञानं स्वपरावभासी । लघीयस्त्रय 60

किसी भी क्रिया के कर्ता, कर्म और करण परस्पर भिन्न-भिन्न होते हैं तथा उस क्रिया का स्वरूप भी उन सबसे भिन्न होता है । "बढई कुठार से लकड़ी को काटता है" इसमें बढ़ई,- कुठार-तथा लकड़ी- भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं । न तो बढ़ई स्वयं अपने को काटता है, न कुठार स्वयं अपने को काटता है और न ही काटना क्रिया स्वयं को काटती है, अपितु बढ़ई कुठार के द्वारा इन दोनों से भिन्न लकड़ी को काटता है । इस प्रकार प्रत्येक क्रिया का कर्म-जिस पर क्रिया की जा रही है सदैव कर्ता, करण और क्रिया से भिन्न होता है ।

ज्ञान को अनात्म संवेदक तथा मात्र पर प्रकाशक सिद्ध करने के लिये नैयायिक और मीमांसक कर्ता, कर्म, करण और क्रिया की पूर्णरूपेण पृथकता को प्रमुख युक्ति के रूप में प्रस्तुत करते हैं । वे कहते हैं कि ज्ञप्ति क्रिया का कर्म - वह विषय जिसे जाना जा रहा है - सदैव उससे भिन्न होता है । कभी भी स्वात्मा में क्रिया नहीं होती । ज्ञान और उसके विषय में सदैव भेद होता है, इसलिये कोई भी ज्ञान स्वयं अपना विषय नहीं हो सकता ।

मीमांसक मत :-

शबर स्वामी कहते हैं कि बुद्धि विषय बोध का करण है इसलिये प्रथम क्षण में उसकी उत्पत्ति होती है तथा द्वितिय क्षण में वह विषय को जानती है । बुद्धि का कभी प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु सदैव विषय प्रत्यक्ष गम्य होता है । बुद्धि विषय बोध के पूर्व क्षण में उत्पन्न होती है पर स्वयं को नहीं जानती । अनन्तरवर्ती क्षण में वह विषय को जानती है इसलिये स्वयं को नहीं जान सकती क्योंकि एक ज्ञान के दो विषय नहीं हो सकते । क्षणिक होने के कारण तृतीय क्षण में वह नष्ट हो जाती है तथा परवर्ती बुद्धि से सम्बद्ध नहीं होने के कारण उसके द्वारा प्रत्यक्ष नहीं की जा सकती । अतः बुद्धि अनुमान गम्य होती है ।[1]

---

1. शाबर भाष्य 1/1/5

शावर भाष्य के टीकाकार कुमारिल ज्ञान को सर्वथा अनात्म प्रकाशक मानते है जबकि प्रभाकर ज्ञान की स्वसंवेदनता को भी मानना चाहते हैं तथा भाष्य से भी संगति बनाये रखना चाहते हैं । इसलिये जिसे आम तौर पर ज्ञान कहा जाता है उसे वे संवित् कहते हैं तथा उससे भिन्न किसी अज्ञात ज्ञान को उसका कारण मानते हैं जो उनके अनुसार अनुमान गम्य है । P. C.

प्रभाकर कहते हैं संवेद्य जिसका विषय हो वह संवित् है । यह संवित् अर्थ की प्रकाशक होने के साथ ही साथ स्वयं की भी प्रकाशक होती है । इसके प्रकाशन के लिये यदि अन्य संवित् की अपेक्षा की जाय तो विषय कभी ज्ञात नहीं हो सकता । संवित् विषय और ज्ञान दोनों से भिन्न है । संवित् सदैव संवित् रूप से तथा विषय से भिन्न ज्ञात होती है । वह कभी भी स्वयं के सवेद्य के रूप में ज्ञात नहीं होती जबकि विषय सदैव संवेद्य के रूप में ही ज्ञात होता है । वे आगे कहते हैं कि संवित् विषय प्रकाशन रूप फल है । अतः इसकी उत्पत्ति के लिये करण की आवश्यकता है । वह करण या प्रमाण है- ज्ञान । ज्ञान निराकार होता है इसलिये प्रत्यक्ष गम्य नहीं होता । 'कार्य सदैव कारण की अपेक्षा रखता है' इस लौकिक प्रतीति के आधार पर उसका अनुमान किया जाता है ।[1]

कुमारिल ज्ञान को मात्र पर प्रकाशक मानते हैं । उनके अनुसार ज्ञान विषय बोध के लिये आत्मा का करण है । इन्द्रियाँ अचेतन होने के कारण विषय परिच्छेदन का करण नहीं हो सकतीं । जब तक आत्मा में ज्ञातता क्रिया उत्पन्न नहीं हो तब तक इन्द्रियाँ, अर्थ आदि सभी के रहते हुए भी उसे विषय बोध नहीं हो सकता । क्या विषयी स्वयं अपना विषय हो सकता है ? क्या ज्ञान अपने आप को जान सकता है ? विज्ञानवादी कहते हैं कि ज्ञान अपने आप को ही जानता है । उसका विषय कभी उससे स्वतंत्र नहीं हो सकता अपितु

----

1. बृहती तथा पंजिका 1/1/5

उसके अपने आकार ही उसके विषय होते हैं । दूसरे शब्दों में ज्ञान और ज्ञेय में अभेद होता है । कुमारिल कहते हैं कि ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है जिससे स्वात्मा पर क्रिया हो रही हो । तब यही किस प्रकार कहा जा सकता है कि ज्ञप्ति क्रिया स्वयं को जानती है ।[1] इस पर टीका करते हुए पार्थ सारथी मिश्र कहते हैं कि विषय और विषयी पूर्णत: भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं । कोई भी ज्ञान स्वयं अपना विषय नहीं हो सकता क्योंकि स्वात्मा में क्रिया का विरोध है । कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि पाकता क्रिया स्वयं अपने आप को पकाती है अथवा काटना क्रिया स्वयं को काटती है अपितु ये क्रियाएँ अपने से भिन्न पदार्थों पर ही घटित होती है । तब यही कैसे कहा जा सकता है कि ज्ञप्ति क्रिया स्वयं को जानती है ।[2] सामान्यतया ज्ञान की स्वंसवेदी सिद्ध करने के लिये दीपक का दृष्टान्त दिया जाता है । जिस प्रकार दीपक अन्यों को प्रकाशित करने के साथ ही स्वयं को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान भी अन्यों को जानने के साथ ही साथ स्वयं को भी जान सकता है, पर प्रकाशित करना और जानना एक ही बात नहीं है । दीपक स्वयं को प्रकाशित तो कर सकता है पर जान नहीं सकता ।[3]

वास्तव में करण की प्रकृति ही ऐसी है कि वह सदैव अपने से भिन्न वस्तु पर ही क्रिया करता है । चक्षुरादि को प्रकाशित कर सकता है पर स्वयं के प्रकाशन की क्षमता का उसमें अभाव है । चक्षुरादि इन्द्रियों के प्रकाशन के लिये अन्य की अपेक्षा होती है । इसीप्रकार ज्ञान भी विषय बोध का कार्य करता है पर उसका ज्ञान अन्य की सहायता से ही हो सकता है ।[4]

नैयायिक कहते हैं कि ज्ञान का विषय सदैव उससे भिन्न वस्तु होती है । इसलिये ज्ञान कभी भी अपने को नहीं जानता अपितु वह सदैव पर प्रकाशक ही होता है।

----

1. श्लोक वार्तिक, शून्य वाद- 64
2. Epistemology of The Bhatt School of Purva Mimance,Page-35
3. श्लोक वार्तिक, शून्यवाद - 65-66
4. श्लोक वार्तिक, शून्यवाद - 186 तथा 187 पूर्वार्द्ध

यदि कहा जाय कि ज्ञान के स्वसम्वेदन की उपलब्धि आत्मा और अन्त:करण के संयोग से होती है तो ऐसा मानने पर ज्ञान, प्रमाण और प्रमेय तीनों में अभेद हो जायेगा क्योंकि स्वयं से स्वयं का ज्ञान होने पर वही ज्ञान स्वयं को जानने वाला होगा, लेकिन ऐसा मानना उचित नहीं है क्योंकि अन्यत्र तीनों के अभेद की उपलब्धि नहीं होती । उदाहरण के लिये दण्ड, चक्रादि करण, घट निर्माण रूप क्रिया तथा घट ये तीनों भिन्न होते हैं । इसलिये करण और कर्म तथा क्रिया और कर्म के अभेद का अभाव होने के कारण ज्ञान भी स्वसंम्वेद्य नहीं हो सकता । अत: ज्ञान ज्ञानान्तरवेद्य है, ज्ञेय होने से घट के समान ।[1]

अर्थ ज्ञान स्वत: ज्ञात नहीं होकर अनन्तरवर्ती ज्ञान से ज्ञात होता है । पहले अर्थ ज्ञात होता है उसके परवर्ती क्षण में अर्थ ज्ञान ज्ञात होता है जिसे अनुव्यवसाय कहा जाता है । अनुव्यवसाय शब्द का अर्थ है - " व्यवसाय को जानने वाला प्रत्यक्ष । उदाहरण के लिये घट ज्ञान के अनन्तर " मैं घट को जानता हूँ" यह मानस ज्ञान अनुव्यवसाय है ।"[2]

जैन मत- ज्ञान की स्वसम्वेदनता -

प्रत्येक ज्ञान विषय को प्रकाशित करने के साथ ही साथ यह भी जानता है कि वह स्वयं किस विषय का ज्ञान है । जब तक विषय ज्ञान ज्ञात नहीं हो तब तक विषय भी ज्ञात नहीं हो सकता ।

कुमारिल कहते हैं कि ज्ञान विषय बोध का करण है तथा करण की सत्ता ही कार्योत्पत्ति के लिये आवश्यक है, ज्ञान नहीं । अत: ज्ञान के अज्ञात रहते हुए भी विषय की सिद्धि हो जाती है ।[3] भासर्वज्ञ कहते हैं कि ज्ञान की उपलब्धि विषय को लिंग के समान सिद्ध नहीं करती जिससे कि उसकी अनुपलब्धि होने पर

---

1. प्रशस्तपाद भाष्य व्योमवती टीका पृष्ठ-529

2. अनुव्यवसाय- व्यवसाय गोचर प्रत्यक्ष। (म.प्र.पृ. 69) यथा घट ज्ञानान्तर जानामि इति मानस ज्ञान । न्याय कोश पृष्ठ-35

3. Epistomology of Bhatt School of Purva Mimanca, Page-52

विषय भी असिद्ध हो । ज्ञान के विषय ग्रहण रूप से उत्पत्ति होने के साथ ही विषय व्यवहार योग्य हो जाता है इसलिये अज्ञात ज्ञान से भी विषय सिद्ध हो जाता है ।[1]

जैनाचार्य कहते हैं कि यदि अज्ञात ज्ञान से विषय सिद्ध हो सकता है तो अज्ञात शब्द से उसका अर्थ तथा अज्ञात लिंग से उसकासाध्य भी सिद्ध हो जाना चाहिये । लेकिन शब्द और लिंग के ज्ञात हुए बिना अर्थ और साध्य का ज्ञान कोई स्वीकार नहीं करेगा । वास्तव में हेतु दो प्रकार के होते है - कारक और ज्ञापक । कारक हेतु अज्ञात रह कर भी कार्यकारी हो सकता है पर ज्ञापक हेतु स्वयं ज्ञात होकर ही विषय का ज्ञापक हो सकता है अन्यथा नहीं ।[2] किसी भी अर्थ में स्वयं ज्ञान को उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है । ज्ञान ही अपनी योग्यता के अनुसार विषय को जानता है । जब वही अज्ञात हो तो विषय कैसे ज्ञात हो सकता है ?

यदि विषय ज्ञान स्वसंवेदन रहित हो तो वह कभी भी ज्ञात नहीं हो सकता । उसके अज्ञात होने पर ज्ञाता और ज्ञान के सम्बंध में कुछ भी कहना असम्भव है । वादिराज कहते हैं कि "यह घट है," "यह पट है" इस प्रकार प्रतिनियत विषय का नियामक व्यक्ति का स्वयं का अनुभव है । योगिदर्शन का विषय समस्त वस्तुएं हैं इसका निश्चय भी ज्ञान द्वारा ही होता है । प्रश्न उठता है कि वह अनुभव, जिसने प्रतिनियत वस्तु को जाना है, ही जब तक ज्ञात न हो तब तक यह कैसे कहा जा सकता है कि यही विषय ज्ञात हुआ है, अन्य नहीं । यह नियत विषय ही ज्ञात हुआ है, सब वस्तुएं नहीं - इसका निश्चय विषय ज्ञान को जानने पर ही हो सकता है अन्यथा नहीं । इसलिये विषय ज्ञान के अभाव में प्रतिनियत विषय व्यवस्था असम्भव है ।[3]

---

1. न्याय विनिश्चय विवरण, भाग-1, पृष्ठ-215 पर उद्धृत
2. तत्वार्थ श्लोक वार्तिक, पृ. । पृ. 311 (हिन्दी अनुवाद)
3. न्यायविनिश्चय विवरण भाग 1 पृष्ठ 211-212

व्योमशिख कहते हैं, "जिस विषय का ज्ञान उत्पन्न होता है उस विषय की उपलब्धि होती है, अन्य की नहीं । यही विषय विषयी भाव का नियामक है ।"[1] लेकिन विषय विषयी भाव की स्थापना करके विवाद का निपटारा तभी किया जा सकता है जबकि विषय और विषयी दोनों ज्ञात हों । अज्ञात विषयी के लिये तो यह भी कहा जा सकता है कि उसका विषय सभी वस्तुएं हैं । जिसका निराकरण तभी सम्भव है जबकि विषयी का भी प्रत्यक्ष हो ।[2]

यदि अज्ञात ज्ञान से विषय ज्ञात हो सकता है तो जिस प्रकार हमारे लिये दूसरे का ज्ञान अज्ञात है उसी प्रकार हमारा ज्ञान भी अज्ञात है । इसलिये हमारे ज्ञान में ऐसी कोई विशेषता नहीं है जिसका हमारे लिये दूसरे के ज्ञान में अभाव हो । इसलिये किसी के भी ज्ञान से अन्य व्यक्तियों को विषय ज्ञात हो जाना चाहिये । देवदत्त के ज्ञान से यज्ञदत्त को भी विषय बोध हो जाना चाहिये ।[3] इस प्रकार ज्ञान को अनात्म प्रकाशक स्वीकार करने पर यही ज्ञाता है, अन्य नहीं, इसका नियमन असम्भव है ।

नैयायिक कहते है, "जिस आत्मा में समवेत होकर ज्ञान उत्पन्न होता है वही ज्ञाता है, अन्य नहीं । विवक्षित ज्ञान का असमवाय होने से ।"[4] प्रश्न उठता है कि विवक्षित ज्ञान का आत्मा में समवाय हुआ या नहीं, इसका ज्ञान कैसे होता है ? स्वतः तो हो नहीं सकता । क्योंकि ज्ञान में स्वसंवेदन का अभाव है । उसके अनन्तरवर्ती ज्ञान से भी नहीं हो सकता क्योंकि वह भी मात्र अपने विषय- अर्थज्ञान को ही प्रकाशित करने वाला है, स्वयं को नहीं, तथा स्वयं के अज्ञात रहने पर उसका विषय- अर्थज्ञान को भी प्रकाशित नहीं हो सकता । अतः 'यही इस विषय का ज्ञाता है' यह न तो स्वतः ज्ञात हो सकता है न परतः[5] । कहने का

---

1. प्रशस्तवाद भाष्य व्योमवती टीका, पृष्ठ 529
2. न्याय विनिश्चय विवरण, भाग-1 पृष्ठ 212
3. न्यायावतार, पृष्ठ-21
4. प्रशस्त पाद भाष्य व्योमवती टीका, पृष्ठ 529
5. न्याय विनिश्चय विवरण, भाग-1, पृष्ठ-213

तात्पर्य यह है कि ज्ञान को जान कर ही यह कहा जा सकता है कि इस ज्ञान की आत्मा में उत्पत्ति हुई है, अन्यथा नहीं । तथा ज्ञान स्वसंवेदी होने पर ही ज्ञात हो सकता है, अन्यथा नहीं ।

अर्थ ज्ञान से जाना जाता है, यह तभी कहा जा सकता है जबकि हमने ज्ञान को कभी जाना हो । स्वसंवेदन के अभाव में न तो ज्ञान के सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकता है और न ही उसकी सत्ता सिद्ध की जा सकती है । यदि कहा जाय कि स्वसंवेदन के अभाव में भी ज्ञान की सत्ता सिद्ध होती है तो प्रश्न उठता है कि किस प्रमाण के आधार पर ? प्रत्यक्ष से तो ज्ञान की सत्ता सिद्ध की नहीं जा सकती क्योंकि प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष रूप है तथा ज्ञान इन्द्रियों से ज्ञात नहीं हो सकता । यदि कहा जाय कि अनन्तरवर्ती क्षण में वह मन से सन्निकृष्ट होकर ज्ञात होता है तो क्षणिक होने के कारण ज्ञान विषय को जान कर ही समाप्त हो जाता है । परवर्ती क्षण में उसकी सत्ता ही नहीं रहती तब वह मन से किस प्रकार सम्बद्ध हो सकता है ? यदि मान भी लिया जाय कि द्वितिय क्षण में विषय ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है तो वह विषय सहित ज्ञात होता है या विषय रहित रूप से ? विषय ज्ञान विषय सहित तो ज्ञात हो नहीं सकता क्योंकि विषय तो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से ही जाना जाता है । यह भी नहीं माना जा सकता कि द्वितीय क्षण में विषय की स्मृति होती है और विषय ज्ञान ज्ञात होता है क्योंकि स्मृति सदैव पूर्वानुभव की ही होती है तथा पूर्वानुभव अर्थात् विषय ज्ञानअभी तक अज्ञात है ।

P.C. यदि ज्ञान को द्वितिय क्षण में विषय रहित रूपसे प्रत्यक्ष गम्य माना जाय तो विषयाभाव में ज्ञान की सत्ता ही नहीं रहेगी क्योंकि ज्ञान विषय प्रकाशन के अतिरिक्त कुछ नहीं है ।

जिस विषय में कभी भी प्रत्यक्ष की गति नहीं हुई हो उसका कभी अनुमान नहीं किया जा सकता क्योंकि अनुमान हेतु और साध्य के मध्य व्याप्ति सम्बंध के आधार

पर किया जाता है तथा व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान हेतु का साध्य के साथ अन्वय व्यतिरेकी दृष्टान्तों के प्रत्यक्ष के आधार पर ही हो सकता है । अन्य व्यक्ति में भी ज्ञान का अनुमान तभी किया जा सकता है जबकि हमने स्वसंवेदन के आधार पर ज्ञान को जाना हो । शब्द, उपमान आदि प्रमाणों के आधार पर भी ज्ञान कभी न कभी प्रत्यक्ष होने पर ही गम्य हो सकता है, अन्यथा नहीं ।

नैयायिक ज्ञान को ज्ञानान्तर वेद्य सिद्ध करने के लिये निम्न अनुमान का सहारा लेते है : "ज्ञान ज्ञानान्तर वेद्य है, ज्ञेय होने से, घट के समान ।" इस अनुमान में हेतु 'ज्ञेयत्व' आश्रया सिद्ध है क्योंकि स्वंसंवेदन के अभाव में ज्ञान किसी भी प्रमाण से नहीं जाना जा सकता । कोई भी विषय तभी ज्ञात हो सकता है जबकि उस विषय को जानने वाला ज्ञान स्वयं ज्ञात हो फिर वह विषय ज्ञान हो या अन्य कोई पदार्थ । अत: जब धर्मी रूप से स्थित ज्ञान ही सिद्ध नहीं है तो उसमें ज्ञानान्तर वेद्य पना कैसे सिद्ध किया जा सकता है ?

ज्ञान के स्वंसंवेदन के अभाव में ज्ञान के सत्व के सम्बंध में बात कैसे की जा सकती है ? यह किस आधार पर कहा जा सकता है कि इस विषय के ज्ञान की उत्पत्ति हुई है ? भाट्ट मीमांसक कहते हैं कि विषय बोध का ज्ञान अर्थापत्ति से होता है । इसका आधार विषय में उत्पन्न हुई ज्ञातता की अन्य प्रकार से व्याख्या का असम्भव होना है ।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि पहले यह विषय अज्ञात था । अब इसमें ज्ञातता नामक् गुण उत्पन्न हुआ है । अत: अवश्य ही इस विषय का ज्ञान हुआ है अन्यथा विषय में इस गुण की उत्पत्ति होना असम्भव थी । इस प्रकार विषय बोध की अन्यथा असिद्धि के बल पर उसका ज्ञान होता है ।

वादिराज कहते हैं कि जो विषय बोध उसके ज्ञान की सत्ता के अभाव में नहीं हो सकता वह सिद्ध है या असिद्ध । यदि सिद्ध है तो ज्ञान के धर्म के रूप में या अर्थ के धर्म के रूप में। यदि विषय को जानना ज्ञान का धर्म है और विषय प्रकाशन सिद्ध है तो धर्म के स्वत: सिद्ध होने से धर्म से अभिन्न होने के कारण धर्मी भी स्वत: सिद्ध हो जायेगा । इसलिये उसको सिद्ध करने के लिये अन्यथानुपपत्ति की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

---

1. श्लोक वार्तिक, शून्यवाद - 182

यदि विषय प्रकाशक अर्थ के धर्म के रूप में सिद्ध हो तो फिर ज्ञान की कल्पना करने की कोई आवश्यकता ही नही है तथा अर्थ प्रकाशन को अर्थ का धर्म मानने पर विज्ञानवाद की सिद्धि होती है जो यह मानते हैं कि विषय ज्ञान ही है तथा ज्ञान अपने से भिन्न किसी वस्तु को नहीं जानता । यह बात मीमांसकों को कभी स्वीकार्य नहीं हो सकती । यदि अर्थ प्रकाशन स्वयं ही असिद्ध हो तो उसके आधार पर ज्ञान को सिद्ध नहीं किया जा सकता जिस प्रकार कि असिद्ध धूप से अग्नि को सिद्ध नहीं किया जा सकता ।[1]

इन्द्रिय, अर्थ आदि को भी हेतु बनाकर ज्ञान को सिद्ध नहीं किया जा सकता । यदि इन्द्रिय के आधार पर ज्ञान को सिद्ध किया जाय तो प्रश्न उठता है कि इन्द्रियों की सत्ता तो सदैव रहती है पर इस समय इस इन्द्रिय से ज्ञान हुआ है यह तो ज्ञान को जान कर ही कहा जा सकता है । फिर मूर्च्छावस्था, निन्द्रा आदि में ज्ञान का अभाव हो जाता है जबकि इन्द्रियाँ उस समय उपस्थित रहती हैं । अतः इन्द्रियों की उपस्थिति मात्र से ज्ञान की सत्ता के सम्बंध में अनुमान नहीं किया जा सकता। अर्थ के आधार पर यदि ज्ञान की सत्ता सिद्ध की जाय तो अर्थ मात्र को हेतु बनाया जायेगा या अर्थ विशेष को । यदि अर्थ मात्र को ज्ञान की सत्ता को सिद्ध करने का हेतु बनाया जायेगा तो सब सर्वज्ञ हो जावेंगे,यदि अर्थ विशेष को हेतु बनाया जाय तो वह अर्थ विशेष " ज्ञात अर्थ " ही ह सकता है । पर जब तक विशेषण " ज्ञात" ज्ञात नहीं हो तब तक उससे युक्त विशेष्य "ज्ञात अर्थ " कैसे ज्ञात हो सकता है क्योंकि विशेष्य सदैव विशेषण के ज्ञात होने पर ही ज्ञात होता है । अतः यदि अर्थ का विशेषण " ज्ञात " ज्ञात है तो अनुमान की कोई आवश्यकता नहीं है तथा यदि ज्ञात नहीं है तो अनुमान सम्भव नहीं है ।[2]

----

1. न्याय विनिश्चय विवरण, भाग-1 पृष्ठ-192
2. न्याय कुमुद चन्द्र भाग-1, पृष्ठ-178-179

अनन्तवीर्य कहते है कि मीमांसकों का यह तर्क करण के स्वरूप को समझे बिना ही दिया हुआ है । करण दो प्रकार के होते है - भिन्न कर्तृक और अभिन्न कर्तृक । 'देवदत्त परसे से घास काटता है' यह भिन्न कृर्तक करण का दृष्टान्त है तथा 'अग्नि अपनी उष्णता से घास को जलाती है' यह अभिन्न कर्तृक करण का दृष्टान्त है । यहाँ अभिन्न कर्तृक करण विवक्षित है, जो स्वयं पर क्रिया करते हुए ही कार्यकारी होता है । दीपक का भासुराकार प्रकाश स्वयं को प्रकाशित करते हुए ही अन्यों को प्रकाशित करता है ।[1]

नैयायिक और मीमांसक कहते हैं कि दीपक का दृष्टान्त ज्ञान की स्वंसवेदनता को सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि वह सदैव ज्ञेय ही रहता है, कभी भी ज्ञान का विषय नहीं होता । इसके उत्तर में प्रभा चन्द्र कहते हैं कि दीपक और ज्ञान दोनों का ही काम प्रकाशित करना है । यह प्रकाशन बोध रूप हो या भासुर रूप, सदैव स्व पर के स्वरूपको स्पष्ट करने वाला होता है ।[2]

नैयायिक और मीमांसक ज्ञान की पर-प्रकाशकता को स्वीकार करने लिये प्रमुख तर्क "स्वात्मनि क्रिया विरोधात्" देते हैं । नैयायिक कहते हैं कि कोई भी क्रिया स्वयं अपना कर्म नहीं होती तथा मीमासक कहते हैं कि करण सदैव अपने से भिन्न वस्तु पर क्रिया को करता है ।

प्रश्न उठता है कि ज्ञप्ति क्रिया का स्वात्मा में विरोध उत्पत्ति रूप से होता है या ज्ञप्ति रूप से ? यदि उत्पत्ति रूप से ज्ञप्ति क्रिया का स्वात्मा में विरोध माना जाय तो इसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि किसी भी क्रिया की स्वयं से उत्पत्ति नहीं होती अपितु उससे पूर्ववर्ती पदार्थों से होती है । यदि ज्ञप्ति क्रिया का ज्ञप्ति रूप से स्वात्मा में विरोध हो तो यह कहना उचित नहीं है क्योंकि जानना ज्ञान का स्वभाव है तथा स्वभाव से किसी का विरोध नहीं होता ।[3]

----

1. प्रमेय रत्न माला; पृष्ठ - 308
2. प्रमेय कमल मार्तण्ड; पृष्ठ - 147
3. आप्त परीक्षा; पृष्ठ - 189

परम्परा से स्वात्मा में क्रिया की उत्पत्ति स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं है । जैसे यदि कहा जाय कि छिदि क्रिया का स्वयं के छेदन रूप से कभी भी ज्ञान नहीं होता अपितु काष्ठ के ही छेदन रूप से ज्ञान होता है । प्रश्न उठता है कि कुठार में स्थित छिदि क्रिया काष्ठ में क्या करती है ? वह काष्ठ के अवयवों में स्थित आरम्भक संयोग को नष्ट करके स्वयं भी नष्ट हो जाती है । आरम्भक संयोग के नाश से ही काष्ठ में छेदन होता है । इस प्रकार परम्परा से कुठार में स्थित छिदि क्रिया द्वारा स्वये पर भी क्रिया होती है क्योंकि काष्ठ के आरम्भक संयोग के नाश के साथ ही उसका भी नाश हो जाता है । अतः यदि स्वात्मा में क्रिया का निषेध माना जाय तो परात्मा में भी क्रिया का निषेध हो जायेगा । उपर्युक्त दृष्टान्त से स्पष्ट है कि क्रिया के स्वात्मा में घटित होने में कोई विरोध नहीं है और इसलिये इस आधार पर ज्ञान की स्वसंवेदनता का निषेध नहीं किया जा सकता ।[1]

मीमांसकों के अनुसार आत्मा को ज्ञान के द्वारा विषय बोध होता है इसलिये वह विषय बोध का करण है । करण होने के कारण वह स्वयं अपना कर्म कैसे हो सकता है ? जैसा कि हम देख चुके हैं मीमांसक ज्ञान को विषय बोध का करण मानते हैं तथा विषय बोध के पूर्व क्षण में उसकी उत्पत्ति मानते हैं । प्रभाचन्द्र कहते हैं कि यदि ज्ञान से उनका तात्पर्य "लब्धि" । जानने की शक्ति । से हो तो हमें कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि सदैव जानने की योग्यता या शक्ति के पूर्व सद्भाव में ही ज्ञान पर्याय या विषय बोध उत्पन्न होता है जिसे हम 'ज्ञानोपयोग' कहते हैं । शक्ति सदैव परोक्ष होती है तथा इस दृष्टि से ज्ञान को परोक्ष मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं है, पर ज्ञानोपयोग रूप से ज्ञान को परोक्ष नहीं माना जा सकता क्योंकि वह विषय बोध के अतिरिक्त कुछ नहीं है ।[2]

---

1. न्याय विनिश्चय विवरण, भाग-1, पृष्ठ -217
2. प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृष्ठ - 122

ज्ञान चेतना और विषय बोध में अंतर इतना ही है कि विषय बोध विषय के निश्चय रूप से ज्ञात होता है तथा उसका ज्ञान विषय ग्रहण स्वभाव युक्त अहं बुद्धि रूप से ज्ञात होता है । यदि कहा जाय कि विषय चेतना से विषय तथा अहं बुद्धि से आत्मा ज्ञात होता है, ज्ञान तो सदैव अज्ञात ही रहता है तो फिर ज्ञान को मानने की ही क्या जरूरत है ? आत्मा ही स्व पर प्रकाशक रूप से स्वीकार कर ली जाय । इस प्रकार विषय को जानना आत्मा की ही एक पर्याय हो जाय पर यह भी तभी सम्भव है जबकि यह बोध भी साथ ही हो कि मैं इस विषय को जान रहा हूँ ।

किस वस्तु को "ज्ञात" कहा जाय तथा किस को "अज्ञात" यह इसी आधार पर निश्चित हो सकता है कि कौन सी वस्तु ज्ञान का विषय हुई है, तथा कौन सी वस्तु ज्ञान का विषय हुई है यह ज्ञान को जान कर ही कहा जा सकता है, ज्ञान के अज्ञात रहने पर नहीं क्योंकि विषय ज्ञान में ही ज्ञात होता है, ज्ञान रहित रूप से नहीं । ज्ञान के "अज्ञात" रहने पर ज्ञात और अज्ञात अर्थ में कोई अंतर नहीं किया जा सकता ।

कभी भी निर्विशेष वस्तु की प्रतीति नहीं होती अपितु विशेष्य सदैव विशेषणों के ज्ञात होने पर ही जाना जा सकता है । अतः ज्ञात अर्थ इस विशिष्ट बुद्धि का विषय "अर्थ" तभी ज्ञात हो सकता है जबकि उसका विशेषण "ज्ञात" भी ज्ञात हो ।[1] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ज्ञान के स्वसंवेदी नहीं होने पर उसके द्वारा अर्थ का संवेदन होना असम्भव है ।

ज्ञान की पर प्रकाशकता :-

जिस प्रकार स्वसंवेदन के अभाव में परसंवेदन असम्भव है उसी प्रकार परसंवेदन के अभाव मे स्वसंवेदन भी असम्भव है । ज्ञान निश्चयात्मक होता है । जिसके सम्बंध में निर्णय किया जा रहा है वह ज्ञान का विषय होता है । ऐसे किसी ज्ञान

---

1. न्याय विनिश्चय विवरण भाग-1, पृष्ठ-210

की कल्पना नहीं की जा सकती जो सम्वेदन मात्र हो तथा जिसमें किसी प्रकार का भेद किया जाना सम्भव नहीं हो । जहाँ भी कहीं निर्णय होगा वहाँ उसका विषय भी होगा । तथा उस निर्णय के विषय तथा उसका अनुभव – ये दो पक्ष भी होंगे । ज्ञान का विषय उससे स्वतंत्र अस्तित्व रखता है । यहाँ यह आपत्ति की जा सकती है कि तब ज्ञान को स्वयं का विषय कैसे कहा जा सकता है ? प्रत्येक ज्ञान स्वयं को तो जानता है पर अन्य पदार्थ को जानते हुए ही स्वयं को जानता है । मात्र स्वसंवेदन की सत्ता असम्भव है ।

योगाचार मत – अर्थ सम्वेदन का अभाव :-

प्रत्येक ज्ञान सदैव स्वयं को ही जानता है, स्वयं से भिन्न किसी वस्तु को नहीं जानता । धर्मकीर्ति कहते हैं, "बुद्धि से भिन्न कोई ग्राह्य पदार्थ नहीं है, न ही बुद्धि से बढ़कर कोई अनुभव है । ग्राह्य ग्राहक भाव से रहित वह स्वयं ही स्वयं को प्रकाशित करती है ।"[1]

प्रज्ञाकर गुप्त कहते हैं, "ज्ञान स्वस्वरूप मे समाप्त होने वाला स्वसम्वेदन मात्र है । उसमें भेद प्रतिभास को स्वीकार करना युक्त नहीं है । स्वसम्वेदन और परसम्वेदन देवदत्त और यज्ञदत्त के समान भिन्न-भिन्न हैं तथा कभी एक नहीं हो सकते । अतः ज्ञान सम्वेदन होने से स्वात्मा में निमग्न होता है तथा अपने से भिन्न किसी को नहीं जानता । यदि कहा जाय कि दूसरे को जानने में क्या दोष है तो कहते हैं कि ज्ञान जिस रूप से स्वयं को जान रहा है उसी रूप से उसका पर को जानना सम्भव नहीं है । यदि कहा जाय कि स्वरूप को जानना युक्त नहीं है तो फिर जिस प्रकार सन्तानान्तर का ज्ञान अज्ञात है उसी प्रकार स्वयं का ज्ञान भी अज्ञात होगा । अतः पर सम्वदेन युक्त नहीं है ।[2]

---

1. प्रमाण वार्तिक 2/327
2. प्रमाण वार्तिकालंकार, पृष्ठ-288

अनुभव ही वस्तु व्यवस्था का नियामक है । अनुभव से बाहर जाकर किसी भी वस्तु की सिद्धि नहीं की जा सकती । वहिरर्थ की सत्ता तभी सिद्ध की जा सकती है जबकि अनुभव से स्वतंत्र वहिरर्थ का ज्ञान हो पर ऐसा कभी नहीं होता । अर्थ का सदैव ज्ञान काल में ही अनुभव होता है, अत: अर्थ का ज्ञान से अभेद है ।[1] कहा जा सकता है कि ज्ञान में हमे द्वि-रूप की प्रतीति होती है जैसे "यह घट है " इसें ज्ञान का एक आकार विषय या ग्राह्याकार "घट" है जो जाना जा रहा है तथा दूसरा ग्राहकाकार "घटाकार ज्ञान" है जो जान रहा है । विषय बहिर्मुख रूप से ज्ञात होता है तथा ज्ञान अन्तर्मुख रूप है । अत: ज्ञान ही हमें यह बताता है कि वह वहिस्थित किसी वस्तु को जान रहा है ।

धर्मकीर्ति कहते है कि उपर्युक्त प्रतीति भ्रमात्मक है । यदि ज्ञान और उसका विषय दो स्वतंत्र वस्तुएं होती तो कभी तो उनकी पृथक-पृथक उपलब्धि होनी चाहिए थी । विषय सदैव ज्ञान सहित ही क्यों उपलब्ध होता है ? ज्ञान रहित विषय की उपलब्धि क्यों नहीं होती ? नील और पीत दो भिन्न वस्तुएं हैं क्योंकि उनके साथ साथ उपलब्ध होने का कोई नियम नहीं है ।[2] न तो कभी अनुभव से रहित पदार्थ की उपलब्धि होती है और न ही अर्थाकार के बिना ज्ञान ज्ञात होता है । इन दोनों की पृथक उपलब्धि के असम्भव होने के कारण इनमें भेद किया जाना असम्भव है ।[3]

P.C. वस्तुत: ज्ञान चित्रकी तरह अद्वैत रूप है। जिस प्रकार चित्र के अनेक आकारों में भेद स्थापित करने पर उसकी चित्रता ही समाप्त हो जाती है उसी प्रकार ज्ञान में ग्राह्य ग्राहक रूप से भेद स्थापित किया जाना असम्भव है ।[4]

---

1. दर्शनोपाधि रहितस्याग्रहात् तदग्रह ग्रहात् ।
   दर्शन नील निभासि, नार्थो, वाह्योगस्ति केवलम् ।।2/335 प्रमाण वार्तिक
2. प्रमाण वार्तिक 2/391 389
3. प्रमाण वार्तिक 2/390
4. नीतादि चित्र विज्ञाने ज्ञानोपाधिडनन्यभाक । अशक्य दर्शन, यत: तुअर्थे विवेचयन् ।।2/321। प्रमाण वार्तिक

निर्विभाग ज्ञान में इस प्रकार का भेद देखना भ्रमात्मक है ।[1]

सदैव नीलाकार सम्वेदन रूप निर्विभाग ज्ञान की ही सत्ता होती है । जिस प्रकार तिमिर रोग से ग्रस्त व्यक्ति को एक चन्द्र में दो चन्द दिखायी देते हैं उसी प्रकार अनादि वासना से ग्रस्त व्यक्ति को एक नीलाकार सम्वेदन में नीलाकार-जिसका ग्रहण किया जा रहा है तथा सम्वेदन - जो ग्रहण कर रहा है इस प्रकार भेद दिखायी देते हैं । लेकिन इस वासना जनित भेद के आधार पर ज्ञान और उसका विषय दो स्वतंत्र वस्तुएं नहीं मानी जा सकती । जिस प्रकार सदैव साथ उपलब्ध होने वाले दो चन्द्र वास्तव में एक ही हैं उसी प्रकार नील और उसकी बुद्धि भी सदैव साथ उपलब्ध होने के कारण वास्तव में एक ही हैं ।

वस्तुवादी ज्ञान विशेष का कारण वस्तु विशेष को मानते हैं । सौत्रान्तिक कहते हैं कि ज्ञान जिस विषय से उत्पन्न होता है उसके आकार को धारण कर उसे जानता है ।[2] ज्ञान की साकारता को विज्ञानवादी भी स्वीकार करते हैं लेकिन उनके अनुसार साकारता का कारण अर्थ नहीं है । एक ही ज्ञान में ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार दोनों नहीं हो सकते इसलिये ज्ञान मे बनने वाले आकार ज्ञान के ही आकार हैं । यदि ज्ञान को अर्थ का ज्ञापक माना भी जाय तो अर्थ तो क्षणिक होता है । वह अपनी उत्पत्ति काल में ज्ञान को अपना आकार देता है या उसके पश्चात् ? प्रथम विकल्प को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि कारण सदैव कार्य से पूर्व होता है । द्वितीय पक्ष को स्वीकार करके भी ज्ञान को अर्थ का ज्ञापक नहीं माना जा सकता क्योंकि ज्ञान काल में अर्थ की सत्ता नहीं रहती ।[3] विज्ञानवादियों के अनुसार वहिरर्थ की सत्ता नहीं है । तब प्रश्न उठता है कि इस समय यही ज्ञान क्यों उत्पन्न हुआ है, अन्य ज्ञान क्यों नहीं तथा समान अर्थ देखने पर कई व्यक्तियों को

----

1. प्रमाण वार्तिक 2/212
2. न्याय बिन्दु टीका, 1/20
3. प्रमाण वार्तिक 2/246

समान ज्ञान क्यों नहीं होता है ? विज्ञान वादी कहते हैं कि व्यक्ति में ज्ञान विशेष की उत्पत्ति का कारण वासना विशेष का उदय है । विशेष बुद्धि की उत्पत्ति के लिये वाह्यार्थ की कोई आवश्यकता नहीं है ।[1] धूम को देखने पर अग्नि का ही अनुमान क्यों होता है, अन्य वस्तु का क्यों नहीं, इसका भी कारण यह है कि धूम ज्ञान को उत्पन्न करने वाली वासना के उदित होने के अनन्तरवर्ती क्षण में अग्नि ज्ञान को उत्पन्न करने वाली वासना का ही उदय होता है, अन्य वासना का नहीं । विभिन्न व्यक्तियों के ज्ञान में तभी समानता पायी जाती है जबकि उनमें समान वासना का उदय हो ।

ज्ञान तो एक आकार विशेष को लिये हुए उत्पन्न होता है तथा निर्विभाग होता है । उस आकार विशेष को वाह्यवस्तु का आकार कहना तथा ज्ञान को उस वाह्य वस्तु का जानने वाला मानना - इस प्रकार निर्विभाग ज्ञानमेंग्राह्य ग्राहक आकार रूप विभाग देखना भ्रम है ।

पर सम्वेदन के अभाव में स्वसम्वेदन की भी सिद्धि नहीं हो सकती -

ज्ञान साकार न होकर निश्चयात्मक होता है तथा निश्चय का सदैव कोई न कोई विषयहोता है जो उससे भिन्न होता है । निश्चय तथा जिसका निश्चय किया जा रहा है, में सदैव एक द्वैत विद्यमान रहता है । यदि ज्ञान अनन्यवेद्य हो तो निश्चय का आकार 'यह नील है' न होकर "मैं नील हूँ" होना चाहिये । निश्चय का आकार "मैं सुखी हूँ" भी होता है । इसका दृष्टान्त देते हुए प्रज्ञाकार गुप्त कहते हैं - "जो अवभासित होता है वह ज्ञान है - जैसे सुख, नीलादि भी अवभासित होते हैं, इसलिये ज्ञान ही है ।"[2] जैन आचार्य कहते हैं कि उपर्युक्त युक्ति ज्ञान और सुख के पूर्णतया एकत्वपर आधारित हैं, लेकिन ये

---

1. कस्यचित् किंचिदेवान्तर्वासनायाः प्रबोधकम् ।
   ततो धियां विनियमो न वाह्यार्थव्यपेक्षया ।। 2/336 प्र०वा०

2. प्रमाण वार्तिकालंकार, पृ.-369

दोनों पूर्णतया एक न होकर आत्मा के दो भिन्न-भिन्न गुण हैं । दोनों के कारण और स्वरूप भिन्न-2 हैं । सुख आल्हादस्वरूप होता है तथा ज्ञान प्रमेयानुभव रूप होता है । सुख का कारण सातावेदनीयकर्म का उदय तथा ज्ञान का कारण ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है ।[1] प्रत्येक ज्ञान का कोई न कोई विषय, चाहे वह आत्मा का ही कोई अन्य गुण हो अथवा कोई वाह्य पदार्थ, अवश्य होता है । विषय रहित स्वसम्वेदन की अनुभूति कभी नहीं होती ।

प्रत्येक ज्ञान की दो वृत्तियाँ - 1। बहिर्मुखी - जिससे वह अपने से भिन्न वस्तु को जानता है तथा अन्तर्मुखी - जिससे वह स्वयं को जानता है, होती हैं । यहाँ यह आक्षेप किया जा सकता है कि यदि एक ही ज्ञान को स्व-पर-सम्वेदी माना जावेगा तो स्वसम्वेदन और पर सम्वेदन दो भिन्न ज्ञान हैं इसलिये उनमें भी स्वपर सम्वेदन होना चाहिये । इस प्रकार अनवस्था दोष आता है । साथ ही जब तक पर सम्वेदन का स्वसम्वेदन नहीं हो तब तक वह ज्ञात नहीं हो सकता, स्वसम्वेदन होने पर वह स्वरूप को ही जानेगा पर रूप को नहीं । इस आक्षेप का उत्तर देते हुए जैनाचार्य कहते हैं कि सदैव धर्मी ही अनेकान्तात्मक होता है, धर्म नहीं ।[2] स्वसम्वेदन और पर सम्वेदन परस्पर पूर्णतया पृथक न होकर एक ही ज्ञान के दो पक्ष होने के कारण अभिन्न हैं जिनमें संज्ञा, लक्षण, प्रयोजनादि की दृष्टि से भेद है । ज्ञान के इन दोनों धर्मों में अवान्तर भेदों की कल्पना नहीं की जा सकती । वह पर को जानते हुए ही स्वयं को जानता है ।[3]

ज्ञान की स्वपर प्रकाशकता को स्वीकार किये बिना उसकी स्वसम्वेदनता भी सिद्ध नहीं होती । "ज्ञान सदैव स्वयं को ही जानता है, वह अपने से भिन्न किसी वस्तु को नहीं जान सकता," यह तभी सिद्ध हो सकता है जबकि पर सम्वेदन का निषेध ज्ञात हो जाय। लेकिन उनके अनुसार स्वसम्वेदन कभी पर सम्वेदन नहीं

---

1. न्याय कुमुद चन्द्र भाग-1 पृ. 120-30
2. समय सार, स्याद्वाद अधिकार, 295/11
3. न्याय विनिश्चय विवरण, भाग-1, पृष्ठ-280

हो सकता और इसलिये पर सम्वेदन को कभी नहीं जाना जा सकता, तो उसके निषेध को किस प्रकार जाना जा सकता है ?

यदि कहा जाय कि उसका ज्ञान नहीं होता, यही उसके निषेध का आधार है तो यह उचित नहीं है । जो वस्तु निषेधापेक्षया भी ज्ञात नहीं हो उसका निषेध किस प्रकार सम्भव है ? फिर पर सम्वेदन का निषेध निषेध ज्ञान से भिन्न है या अभिन्न ? प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर "ज्ञान अपने से भिन्न किसी वस्तु को नहीं जान सकता" का ही खण्डन हो जाता है । यदि वह निषेध अपने ज्ञान से अभिन्न है तथा पर्युदास रूप से पर समुवेदन का निषेध किया जा रहा है तो यह पर सम्वेदन का पूर्व परिचय होने पर ही सम्भव है । जिस प्रकार भूतल पर घटाभाव को वही जान सकता है जिसको कभी घट ज्ञान हुआ हो उसी प्रकार " स्वसम्वेदन में पर सम्वेदन का अभाव है" इस बात का बोध उसी व्यक्ति को हो सकता है जो पर सम्वेदन को भी जानता हो, लेकिन बौद्धों के अनुसार सदैव स्वसम्वेदन का ही ज्ञान होता है । पर सम्वेदन का ज्ञान कभी नहीं होता ।

विज्ञानवादी ज्ञान को चित्राद्वैत रूप मानते हैं । वे कहते हैं कि जिस प्रकार चित्र के नील, पीतादि आकारों में भेद करने पर चित्र की चित्रता ही समाप्त हो जाती है उसी प्रकार नीलाकार ज्ञान में नीलाकार और ज्ञान में भेद स्थापित नहीं किया जा सकता ।[1] जैन कहते है कि चित्र का दृष्टान्त मात्र एकता का दृष्टान्त नहीं है अपितु एकता में अनेकता का दृष्टान्त है । जिस प्रकार चित्र के विभिन्न अंशों में स्थित विभिन्न रंगों का उसी रूप से बोध हो रहा है तथा वे सभी रंग एक दूसरे से असंकर रहते हुए तथा अपना पृथक-पृथक स्वरूप बनाये रखते हुए ही एक चित्र का निर्माण कर रहे हैं, उसी प्रकार नीलाकार ज्ञान एक है लेकिन उसमें नीलाकार

---

1. प्रमाण वार्तिक ~~2/220~~ मनोरथनन्दि वृत्ति 2/220

और ज्ञान ग्राह्य तथा ग्राहक रूप से स्थित हैं । यदि ऐसा नहीं माना जाय तथा दोनों में पूर्ण अभेद हो, तो जिस प्रकार अहं प्रत्यय में ग्राहकता की प्रतीति हो रही है उसी प्रकार नील में भी होनी चाहिये अथवा नील के समान ही अहं प्रत्यय भी ग्राह्य होना चाहिये ।[1] ऐसी स्थिति में ज्ञान का ही लोप हो जायेगा तथा ज्ञान की सत्ता को स्थापित करना असम्भव होगा ।

विज्ञानवादी कहते हैं कि ग्राह्याकार तथा ग्राहकाकार दोनों ज्ञान के ही आकार हैं । ज्ञेयाकार हमें यह बताता है कि अमुक स्थान पर वह वस्तु स्थित है, लेकिन वह ज्ञान का ही आकार है तथा उसके आधार पर बाह्य वस्तु की सत्ता तभी मानी जा सकती है जबकि हमें उससे स्वतंत्र रूप से वस्तु की उपलब्धि हो । इसलिये यह कहने का कोई आधार नहीं है कि ज्ञान अपने से भिन्न किसी वस्तु को जानता है । वह तो अपने में ही बनने वाले ज्ञेयाकारों को जानता है इसलिये ज्ञान से स्वतंत्र ज्ञेय की सत्ता नहीं मानी जा सकती । प्रज्ञाकर गुप्त कहते हैं "सम्वेदन के द्वारा अर्थ बाह्य होने से सिद्ध नहीं होता । सम्वेदन के बिना भी वह सिद्ध नहीं होता । यदि नील का सम्वेदन होता है तो उसे बाह्य किस प्रकार कहा जा सकता है, यदि नील का सम्वेदन ही नहीं होता तो उसे बाह्य किस प्रकार कहा जा सकता है ।"

ज्ञान में ज्ञेयाकारों का निर्माण अनादि वासना से होता है तथा इन्हें बाह्य वस्तु के आकार मानना भ्रम है । जिस प्रकार तैमिरिक को द्विचन्द्र की उपलब्धि सदैव साथ होती है इसलिये वह वास्तव में एक चन्द्र ही है उसी प्रकार ज्ञान और ज्ञेय सदैव साथ उपलब्ध होते हैं, इसलिये ज्ञान मात्र की ही सत्ता है ।

जैन दार्शनिक कहते हैं कि ज्ञान ही वस्तु व्यवस्था का नियामक है । वह ही हमें यह बता सकता है कि उससे स्वतंत्र अर्थ की सत्ता है या नहीं । यह ठीक

---

1. न्याय कुमुद चन्द्र, भाग-1, पृष्ठ-119

है कि कोई वस्तु तभी ज्ञात होती है जबकि वह ज्ञान का विषय बने लेकिन ज्ञान हमें विषय को अपने से भिन्न देश में, अपने से भिन्न रूप में, अपने से भिन्न अर्थ क्रियाओं से युक्त बताता है ।[1] वस्तु नीलादि रंगों से युक्त, तन्तुओं आदि से निर्मित, आच्छादनादि कार्यों से युक्त होती है जबकि वस्त्र के ज्ञान का कार्य मात्र वस्त्र को जानना होता है । वस्त्र से सम्पन्न होने वाली अर्थ क्रियाएं वस्त्र ज्ञान से सम्पन्न नहीं हो सकती । यदि ऐसा हो सकता तो वस्त्राभाव में वस्त्र की कल्पना मात्र से आच्छादनादि अर्थक्रियाएँ सम्पन्न हो जानी चाहिये थीं । कहा जा सकता है कि स्वप्न में विषयाभाव में भी विषय और उससे होने वाली अर्थक्रियाओं की प्रतीति होती है । उसी प्रकार जागृत अवस्था में भी अनादि वासनाके बल से वस्तु और उसके प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं । इसके उत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि तुच्छाभाव की प्रतीति कभी नहीं होती । स्वप्न में जो प्रतीतियो होती हैं, जागृत अवस्था में हुए विषयानुभव के संस्कारों के कारण होती हैं । कभी भी स्वप्न में किसी ऐसी वस्तु की प्रतीति नहीं होती जो जागृत अवस्था में जानी हुई वस्तुओं से पूर्णतया विलक्षण हो ।

यह कहना कि, जिस प्रकार स्वप्नावस्था में विषयाभाव में कल्पनाशक्ति द्वारा विषय प्रकाशित होते हैं उसी प्रकार जागृत अवस्था में ज्ञात हो रहे विषय भी अनादि वासना का कार्य हैं, उचित नहीं है । प्रश्न उठता है कि वासना ज्ञान से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो जिस प्रकार ज्ञान से भिन्न वासना ज्ञात हो सकती है, उसी प्रकारअर्थ भी ज्ञात हो जाय । ज्ञानकी पर प्रकाशकता का खण्डन क्यों किया जाता है। यदि अभिन्न हैं तो वह ज्ञान ही है तथा ऐसी स्थिति में जिस रूप में ज्ञान हो रहा है उसी रूप में स्वीकार करना पड़ेगा । अन्यथा मानने का कोई कारण नहीं है ।

----

1. न्याय कुमुद चन्द्र, भाग-1 पृष्ठ 119

विषय के सम्बंध में हमारे सभी निर्णय किसी न किसी अनुभव पर आधारित होते हैं। अनुभव उसी वस्तु का होता है जिसकी सत्ता हो। सर्वथा असत् वस्तु की कभी प्रतीति नहीं होती। संशय और भ्रम में भी उसी वस्तु के सामान्य धर्मों का अवधारण होताहै जो सम्मुख है, यद्यपि प्रकाश, दूरी नेत्रों की कमजोरी आदि कई कारणों से हम उसके विशेष धर्मों पर यथार्थ निश्चय नहीं कर पाते, लेकिन अयथार्थ ज्ञानों को पूरी तरह से असत् वस्तु का ज्ञान नहींमाना जा सकता। इनकी उत्पत्ति शून्य में न होकर किसी वस्तु के सद्भाव से ही होती है। उदाहरण के लिये हमें स्थाणु में ही पुरूष का भ्रम होता है, शून्य में नहीं। यह भ्रम भी एक आकार विशेष के बोध होने पर ही होता है जो स्थाणु और पुरूष दोनो में समान है। साथ ही स्थाणु को भी पुरूष रूप में वही समझ सकता है जिसे पहले कभी पुरूष का यथार्थ बोध हुआ हो। पुरूष से पूर्णतया अपरिचित व्यक्ति को उक्त परिस्थितियों में अनध्यवसाय ही होगा, भ्रम नहीं।

हमारे बहुत से ज्ञान अयथार्थ होते हैं। रेगिस्तान में होने वाला मृगमरीचिका का ज्ञान, उड़ते हुए मच्छरों का केश रूप में ज्ञान, स्वप्न ज्ञान आदि इसके उदाहरण हैं। विज्ञानवादी कहते हैं कि यदि ज्ञान अपने विषय को जानते हैं तो उपर्युक्त ज्ञान बाधित क्यों होते हैं? हर ज्ञान यथार्थ ही होना चाहिये। जिस प्रकार उपर्युक्त ज्ञान विषय की सत्ता के अभाव में भी विषय को जान रहे होते हैं इसलिये वास्तव में निर्विषयक हैं उसी प्रकार समस्त ज्ञान निर्विषयक है, ज्ञान होने से, स्वप्न ज्ञान के समान।[1] अनन्तवीर्य कहते हैं कि इस अनुमान द्वारा धर्मी बनाये गये समस्त ज्ञान अज्ञात हैं क्योंकि अपने से भिन्न ज्ञानों को विषय नहीं बनाया जा सकता तथा जो वस्तु ही सिद्ध नहीं है उसमें किसी धर्म को किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है? इस अनुमान का हेतु अकिंचित्कर है क्योंकि ज्ञान की निर्विषयकता की सिद्धि के लिये अनुमान स्वयं समस्त ज्ञानों को विषय बना रहा है। यदि यह अनुमान स्वयं सविषयक

---

1. निरालम्बना सर्वे प्रत्यया: स्वप्न प्रत्ययवत्।
प्रमाण वार्तिकालंकार 3/33

है तो समस्त ज्ञानों की निर्विषयकता की सिद्धि कैसे कर सकता है । यदि समस्त ज्ञान इसके विषय नहीं हैं तो उनके सम्बंध में कुछ कहा ही नहीं जा सकता। ~~यह समस्त ज्ञान इसके विषय नहीं है तो उनके सम्बंध में कुछ कहा ही नहीं जा सकता~~ । यह हेतु विरुद्ध भी है क्योंकि जिस प्रकार यह अनुमान ग्राह्य ग्राहक आकारों से युक्त है उसी प्रकार समस्त ज्ञान ग्राह्य ग्राहक आकारों से युक्त हो जाय ।[1]

उपर्युक्त अनुमान दृष्टान्त के आधार पर ज्ञान की निर्विषयकता को सिद्ध करता है, ज्ञान तथा निर्विषयकता के मध्य व्याप्ति सम्बंध के आधार पर नहीं । लेकिन दृष्टान्त मात्र से साध्य की सिद्धि नहीं की जा सकती । केश ज्ञान भ्रमात्मक था या स्वप्न ज्ञान अयथार्थ, यह किसी निर्विषयक ज्ञान द्वारा ज्ञात नहीं होता अपितु मच्छर और पूर्व में हुए केश ज्ञान दोनों को विषय करने वाले ज्ञान से होता है । यदि वर्तमान ज्ञान से भिन्न केश ज्ञान को विषय बनाना भ्रामक हो अथवा मच्छरों को ज्ञान का विषय नहीं बनाया जाय तो केश ज्ञान की भ्रमात्मकता का ज्ञान कभी नहीं हो सकता । यदि स्वप्न ज्ञान जागृत अवस्था के ज्ञान से बाधित नहीं हो तो उसकी निरालम्बनता का बोध नहीं हो सकता । अतः सविषयक ज्ञान ही किसी ज्ञान की निर्विषयकता को सिद्ध कर सकता है लेकिन निर्विषयक ज्ञान के द्वारा किसी ज्ञान की सविषयकता का खण्डन नहीं किया जा सकता ।

कहा जा सकता है कि जिस प्रकार स्वप्न ज्ञान की सविषयकता का जागृत अवस्था के ज्ञान से बोध होता है उसी प्रकार जागृत अवस्था में होने वाले ज्ञान की सविषयकता का बोध योगियों को समाधि में होने वाले ज्ञान से हो जाता है । लेकिन ऐसा मानने पर भी ज्ञान की स्वसम्वेदनता मात्र की सिद्धि नहीं होती अपितु स्वपर प्रकाशकता की ही सिद्धि होती है । यदि अन्य ज्ञान क्षण योगी प्रत्यक्ष का

---

1. सिद्धि विनिश्चय टीका पृष्ठ 422

विषय नहीं हो और मात्र स्वानुभूति ही हो रही हो तो उनकी निर्विषयकता का ज्ञान नहीं हो सकता, यदि हो तो वह ज्ञान भी सविषयक है । यदि उनका (योगियों) ही ज्ञान स्वपर प्रकाशक हो तथा हमारा ज्ञान मात्र स्व प्रकाशक हो तो हम किसी भी प्रकार नहीं जान सकते कि योगियों ने क्या देखा है, सत्य क्या है। हम तो मात्र अपने ज्ञान में बनने वाले आकारों को ही जान सकते हैं और ज्ञान का आकार ही हमें यह बताता है कि वह अपने से भिन्न अर्थ को जान रहा है । वस्तु क्या है, कैसी है इसका नियामक ज्ञान ही है । जब हमें सदैव यह अनुभूति होती है कि हम अपने से भिन्न वस्तु को जान रहे हैं तो हम ज्ञान से बाहर जाकर उसका निषेध नहीं कर सकते ।[1]

अभेद ज्ञान में भेद का ज्ञान होना भ्रम है ।[2] धर्मकीर्ति के इस कथन के उत्तर में प्रमाण वार्तिकालंकार की पंक्तियों को रखते हुए वादिराज कहते हैं कि "सम्वेदन के द्वारा बाध्य होने से विप्लव की सिद्धि नहीं होती, सम्वेदन के बिना भी विप्लव की सिद्धि नहीं होती । विप्लव का यदि ज्ञान होता है तो उसे ज्ञान से भिन्न किस प्रकार कहा जा सकता है, विप्लव का यदि ज्ञान ही नहीं होता तो उसे ज्ञान से भिन्न किस प्रकार कहा जा सकता है ।[3] यदि ज्ञान हमें यह नहीं बताता कि वह अपने से भिन्न वस्तु को जान रहा है तब तो कोई समस्या ही नहीं थी, लेकिन ज्ञान का ग्राह्य ग्राहक रूप से प्रतीत होने पर उसे भ्रम किस प्रकार कहा जा सकता है ?

ज्ञान विषय से समान काल में उत्पन्न होता है या भिन्न काल में इस प्रकार के विकल्प नहीं उठाये जा सकते क्योंकि ज्ञान न तो विषय के आकार का होता है न विषय से उत्पन्न होता है । ज्ञान और ज्ञेय दोनों भिन्न-2 स्वरूप वाले हैं तथा अपने-अपने कारणों से उत्पन्न होते हैं । दोनों के मध्य ज्ञाप्य ज्ञापक भाव रूप सम्बंध होता है ।[4]

---

1. न्याय विनिश्चय विवरण भाग-1 पृष्ठ-303
2. प्रमाण वार्तिक 2/212
3. न्याय विनिश्चय विवरण, भाग-1 पृष्ठ-306
4. लघीयस्त्रय 59

कहा जा सकता है कि जब दोनों के मध्य किसी प्रकार का सम्बंध नहीं है तो ज्ञान कुछ भी किसी भी रूप में जानता रहे, हम उससे इस मान्यता के लिये बाध्य नहीं होते कि उसके अनुरूप बाह्य पदार्थ है ही । वैसे भी कई ज्ञानों का बाधित विषयत्व इस बात का साक्षी है कि ज्ञान में ऐसी कोई बाध्यता नहीं है जिसके आधार पर उसे विषय प्रकाशक माना ही जाय । इसके उत्तर में जैन कहते है कि ज्ञान का स्वरूप विषय प्रकाशन ही है । वह अपने शुद्ध स्वरूप में होने पर विषय को पूर्णतः यथार्थ रूप में ही जानता है क्योंकि यह उसका स्वभाव है । ज्ञान की अयथार्थता कारण दोषपूर्वक होती है । संसारी अवस्था में उसको जानने की शक्ति पर पुद्गल कर्मों का आवरण पड़ा रहता है । इन कर्मों का जितनी मात्रा में अभाव होता है उतना ही ज्ञान विषय को यथार्थतः जानता है । ज्ञानावरणीय कर्मों की न्यूनाधिक हानि से आत्मा में विषय को जानने की क्षमता अधिक या कम होती है लेकिन इसके साथ ही प्रकाश, दूरी, इन्द्रियों की क्षमता आदि का भी विषय के यथार्थ अयथार्थ ज्ञान पर प्रभाव पड़ता है । ज्ञान की यथार्थता अयथार्थता के पीछे निश्चित कारण होते हैं इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान कुछ भी जानता रहे उसके अनुरूप विषय को मानने के लिये हम बाध्य नहीं हैं । हम ज्ञान की यथार्थता अयथार्थता को जान सकते हैं । यह बोध अभ्यस्त दशा मे स्वतः तथा अनभ्यस्त दशा में परतः होता है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यदि ज्ञान को मात्र आत्म प्रकाशन ही माना जाय तो उसका बाह्य वस्तु को जानने की क्षमता का निषेध करना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं होगा । पर प्रकाशकता का निषेध भी तभी सम्भव है जबकि जिस प्रकार की प्रतीति हो रही है उससे बाहर जाकर यह निश्चय किया जाय कि यह मिथ्या है। मात्र उसे ही जानते हुए उसका निषेध किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता ।

वास्तव में ज्ञान को अनन्यवेद्य मानने पर किसी भी ज्ञान को मिथ्या नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसी स्थिति में हर ज्ञान अपने स्वरूप को ही जानने वाला होगा तथा स्वरूप कभी अन्यथा ज्ञात नहीं होता । तब चाहे मृग मरीचिका का ज्ञान हो, स्वप्न ज्ञान हो अथवा वाह्य वस्तु का प्रतिभास हो सभी यथार्थ हैं क्योंकि सभी ज्ञान अपने स्वरूप को ही जान रहे हैं । लेकिन जिस प्रकार समस्त ज्ञानों को भ्रमात्मक मानने पर भ्रम की सिद्धि भी नहीं होती उसी प्रकार सभी ज्ञानों को यथार्थ मानने पर भी वस्तु स्थिति के सम्बंध में कुछ नहीं कहा जा सकता ।[1] जब हमें एक ही स्थिति के सम्बंध में दो विरोधी प्रतीतियाँ की उपलब्धि होगी तो हमें उनसे भिन्न उपायों से यह निश्चय करना पड़ेगा कि उनमें से कौन सी प्रतीति यथार्थ है । दोनों को एक साथ यथार्थ या अयथार्थ नहीं माना जा सकता ।

स्वपक्ष सिद्धि तथा पर पक्ष खण्डन दोनों ही स्थितियों में ज्ञान को पर प्रकाशक मानना आवश्यक है । पर प्रकाशन ज्ञान का आकस्मिक धर्म न होकर अनिवार्य धर्म है । चेतना की ऐसी स्थिति के लिये कोई प्रमाण नहीं है जो स्वानुभव मात्र हो । अनुभूति सदैव निश्चयात्मक होती है तथा निश्चय एक द्वैत को लिये हुए ही होता है, चाहे वह ज्ञान और अन्य आत्म गुणों का द्वैय हो अथवा ज्ञान तथा वाह्य पदार्थों का । प्रत्यक्ष सदैव विषय सहित ही उपलब्ध होता है तथा अनुमान हेतु, साध्य, पक्ष आदि के भेद सहित । निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को जैन स्वीकार नहीं करते क्योंकि यह स्वयं कभी ज्ञात नहीं होता अपितु तद्पृष्ठ भावी सविकल्पक प्रत्यक्ष से उसका निश्चय होता है ।[2]

---

1. न्याय विनिश्चय विवरण, भाग-1 पृष्ठ 32।
2. न्याय बिन्दु टीका 1/2।

ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान - प्रत्येक ज्ञान का विषय -

उपर्युक्त समस्त विवेचन से स्पष्ट है कि सारे विवाद का मूल कारण ज्ञान के विषय का स्वरूप है । विज्ञानवादी उसे ज्ञान से पूर्णतया अभिन्न मानते है तथा वस्तुवादी दर्शनों-न्याय और मीमांसा के अनुसार ज्ञान से पूर्णतया भिन्न वस्तु ही ज्ञान का विषय होती है । उपर्युक्त दोनों ही सिद्धान्त पूर्ण सत्य न होकर सत्यांश को हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं । इन दोनों का समन्वय कर दिया जाय तभी हमारे अनुभव की समुचित व्याख्या सम्भव है अन्यथा हमें विसंगतियों का सामना करना पड़ता है ।

प्रथम स्थिति अर्थात् ज्ञान और उसके विषय में पूर्ण अभेद को स्वीकार करने पर न तो अन्य ज्ञान सन्तानों के सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकता है और न ही अपनी पूर्वापर ज्ञान अवस्थाओं के सम्बन्ध में, क्योंकि वे भी वर्तमान ज्ञान क्षण से भिन्न होने के कारण अज्ञात हैं । यदि ये ज्ञात होती हैं तो उनका जानने वाले न से एकत्व स्थापित हो जाता है क्योंकि विषय ज्ञान से अभिन्न होता है । साथ ही इसके द्वारा ज्ञान की पर प्रकाशकता का निषेध भी नहीं किया जा सकता क्योंकि उसका स्वरूप ही स्वपर प्रकाशक है तथा स्वरूप बोध कभी भ्रान्त नहीं होता । अतः ज्ञान की पर प्रकाशकता को स्वीकार किये बिना न तो उपर्युक्त स्थिति को स्वीकार किया जा सकता है न अस्वीकार ।

द्वितीय स्थिति को स्वीकार करने पर ज्ञान ही अज्ञात रहता है क्योंकि वह अपने से भिन्न नहीं होता । इस स्थिति में घट तो ज्ञात होता है पर घट को जानने वाला ज्ञान नहीं । दूसरे शब्दों में घट तो ज्ञात होता है पर इस बात का ज्ञान नहीं होता कि घट का ज्ञान हुआ है । लेकिन यह ज्ञात हुए बिना कि, घट का ज्ञान हुआ है, घट कैसे ज्ञात हो सकता है ? कोई भी वस्तु स्वतः ज्ञात

नहीं होती अपितु ज्ञान ही हमें यह बताता है कि किस वस्तु का अस्तित्व है किसका नहीं, विषय ही ज्ञात होता है अथवा विषय को जानने वाला ज्ञान भी ज्ञात होता है, जब ज्ञान स्वयं ही अज्ञात हो तो उसके विषय किस प्रकार ज्ञात हो सकते हैं ?

जैन ज्ञान और ज्ञेय के मध्य भेदाभेद सम्बंध मानते हैं । वे कहते हैं कि ज्ञान से पूर्णतया भिन्न ज्ञेय कभी भी ज्ञात नहीं होता । यदि ऐसा हो सकता तो जितनी भी वस्तुएं हैं वे ज्ञात हो जानी चाहिये थीं । ज्ञान तथा ज्ञेय में अभेद इस दृष्टि से होता है कि दोनों एक ही ज्ञान के विषय होते हैं तथा उनका स्वरूप, अवस्थिति आदि की दृष्टि से वे भिन्न-भिन्न हैं । वास्तव मे हम अपनी चेतना की स्थितियों को ही जानते हैं जिसमें किसी वस्तु के सम्बंध में निश्चय किया जा रहा है लेकिन जो निश्चय किया जा रहा है वह ज्ञान के सम्बंध में नहीं है, अपितु उससे भिन्न वस्तु के सम्बंध में है । कुंदकुंदाचार्य कहते हैं " निश्चय नय से सर्वज्ञ सदैव स्वयं को जानते हैं और व्यवहार नय से लोकालोक को जानते है ।"[1] इसका अर्थ यह है कि ज्ञान सदैव अपने निश्चयात्मक स्वरूप को ही जानता है लेकिन यह निश्चय उससे भिन्न वस्तु के सम्बन्ध में ही होता है इसलिये वह पर प्रकाशक कहा जाता है ।

ज्ञान और ज्ञेय पद परस्पर सापेक्ष हैं । कोई वस्तु किसी ज्ञान का विषय होने पर ही ज्ञेय कहलाती है तथा किसी वस्तु को जानते हुए ही चेतना ज्ञान कहलाती है । शून्यवादी इसी आधार पर कहते हैं कि दोनों ही शून्य हैं ~~मूल माध्यमिक कारिका नागार्जुन~~ क्योंकि उनका अपना कोई स्वभाव नहीं है ।[2]

---

1. नियम सार, गाथा 159
2. The Central Philosophy of Buddhism, Page - 105.

समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि वे सर्वथा सापेक्ष न होकर कथंचित् सापेक्ष हैं । इसलिये इन्हें निस्वभाव नहीं कहा जा सकता । ज्ञान और ज्ञेय अस्तित्व की दृष्टि से सापेक्ष तथा स्वरूप की दृष्टि से निरपेक्ष हैं ।[1] ज्ञान चेतन तथा विषय प्रकाशक होता है, निराकार होता है, विषय जड भी हो सकता है तथा अन्य अनेक गुणों का आश्रय भी । दोनों परस्पर स्वतंत्र होते हैं तथा उनके मध्य किसी भी प्रकार का कार्य कारण सम्बंध नहीं होता ।

प्रमेय ज्ञान स्वपर प्रकाशक होता है । वह स्वोन्मुखतया स्वयं को[2] तथा विषयोन्मुखतया विषय को जानता है ।[3] मैं घट को अपने आप के द्वारा जानता हूँ[4] निश्चय के इस प्रकार के आकार के द्वारा कर्ता, कर्म, करण और क्रिया चारों की प्रतीति होती है ।[5] यहाँ पर मैं कर्ता का पद है, "घट" कर्म है, "अपने आपके द्वारा" करण तथा "जानता हूँ" क्रिया है । उपर्युक्त ज्ञान में चारों का स्पष्ट शब्दोल्लेख है इसलिये किसी की भी प्रतीति का निषेध नहीं किया जा सकता लेकिन जहाँ स्पष्ट शब्दोल्लेख नहीं हो वहाँ पर भी चारों की प्रतीति अवश्यम्भावी है[6] मीमांसक कहते हैं कि करण कभी स्वयं पर क्रिया नहीं करता । ज्ञान विषय बोध का करण है इसलिये प्रथम क्षण में वह उत्पन्न होता है तथा द्वितीय क्षण में विषय को जानता है तथा स्वयं अज्ञात रहता है । प्रभाकर ज्ञान के दो भेद करते हैं-करण ज्ञान तथा फल ज्ञान । करण ज्ञान अज्ञात तथा फल ज्ञान दीपक की तरह स्व पर प्रकाशक होताहै ।

---

1. आप्त मीमांसा गाथा-75
2. परीक्षा मुख सूत्र 1/76
3. वही 1/7
4. परीक्षा मुख सूत्र 1/8
5. परीक्षा मुख सूत्र 1/9
6. प्रमेय कमल मार्तण्ड,पृष्ठ-128

उपरोक्त स्थिति अयुक्ति युक्त है। ज्ञान की सत्ता होने का अर्थ ही यह है कि कुछ जाना जा रहा है। इसलिये वह सदैव विषय को जानते हुए ही उत्पन्न होता है। हर ज्ञान अपने विषय परिच्छेदन का साधकतम कारण होता है तथा विषय परिच्छेदन उसका फल होता है। करण ज्ञान और फल ज्ञान में अभेद होता है इसलिये एक का प्रत्यक्ष होने पर दूसरा अज्ञात नहीं रह सकता।

ज्ञान आत्मा की शक्ति विशेष है। आत्मा अपनी इस शक्ति के द्वारा विषय को जानता है। लगभग सभी आत्मवादी दर्शन ज्ञप्ति क्रिया के कर्ता के रूप में आत्मा को "अहं प्रत्यय" द्वारा ज्ञात मानते हैं पर अधिकांशः तया आत्मा को विषयी के रूप में ही ज्ञात माना जाता है, विषय के रूप में नहीं। अद्वैत वेदान्त तथा प्रभाकर के अनुसार अहं प्रत्यय का अभाव कभी नहीं होता लेकिन कुमारिल कहते है कि जब निश्चय का आकार "यह घट है" होता है तो आत्मा ज्ञात नहीं होता तथा जब निश्चय का आकार "मै घट को जान रहा हूँ" होता है तब आत्मा ज्ञातहोती है। दूसरे शब्दों में ज्ञान में "मैं" शब्द का उल्लेख नहीं होने पर आत्मा ज्ञात नहीं होती।[1] इसके उत्तर में जैन कहते हैं कि सविकल्पक ज्ञान के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह शब्दात्मक ही हो। घट की प्रतीति के लिये घट शब्द का उल्लेख आवश्यक नहीं है।[2] उसके उल्लेख होने पर भी घट ज्ञान अनेक गुणों, तथा- एक विशेष आकार, रंग आदि, जिनका उल्लेख नहीं होता, का ज्ञान होता है। यदि हर ज्ञान में आत्मा ज्ञात नहीं मानी जाय तो यह ज्ञात नहीं हो सकता कि विषय को कौन जान रहा है। मै ही अपने ज्ञान द्वारा इस विषय को जान रहा हूँ, अन्य व्यक्ति नहीं, यह बोध प्रत्येक ज्ञान के साथ होता है जो कि हर ज्ञानमें ज्ञाता के ज्ञान का परिचायक है।

---

1. Epistemology of Bhatt School of Purva Mimansa, Page-37
2. प्रमेय रत्न माला, पृष्ठ-27

प्रभाकर भी प्रत्येक ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों का प्रत्यक्ष मानते हैं।[1] इसे त्रिपुटी प्रत्यक्ष कहा जाता है। उनके अनुसार विषय प्रत्यक्षतया गम्य हो अथवा परोक्षतया, ज्ञाता तथा ज्ञान सदैव प्रत्यक्ष रूप से ज्ञात होते हैं।[2] लेकिन ज्ञाता तथा ज्ञान ज्ञेय रूप से ज्ञात नहीं होते अपितु ज्ञाता सदैव ज्ञाता के रूप में ज्ञात होता है।[3] प्रभाचन्द्र इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि यह कहना कि "ज्ञात हो रहे है पर ज्ञेय नहीं है" विरोधी कथन है। जो भी ज्ञात हो रहा है वह ज्ञेय है। अतः ज्ञाता और ज्ञान भी स्वये के विषय है क्योंकि उनकी प्रतीति हो रही है।[4]

विषय तो ज्ञान से भिन्न होता है। प्रश्न उठता है कि यदि बाह्य पदार्थ के समान ही ज्ञान भी विषय हो तो वह भी अपने से भिन्न हो जायेगा। इसी प्रकार ज्ञाता तथा ज्ञान में अभेद होता है, इसलिये उसे भी विषय नहीं माना जा सकता। एक ज्ञान में ज्ञाता तथा ज्ञेय और ज्ञान तीनों अपने अपने स्वरूप में प्रतिभासित होते है। इसलिये किसी का भी निश्चय उस ज्ञान से पूर्णतया अभिन्न नहीं है। उदाहरण के लिये जब मैं विषय को जानते हुए विषय को जानने वाले ज्ञान सहित स्वयं को जान रही हूँ तो उसमें पूरे ज्ञान का स्वरूप वहीं नहीं है जो आत्मा को जानने का स्वरूप है। आत्मा अपनी घटोन्मुख ज्ञान पर्याय रूप धर्म के द्वारा ज्ञात हो रहा है, ज्ञान घटोन्मुख रूप स्वरूप सहित स्वयं को जान रहा है तथा घट बहिर्देश स्थित एक विशेष आकार प्रकार सहित ज्ञात हो रहा है। ये तीनों ज्ञान एक ही ज्ञान के धर्म है, उसके अविभाज्य अंग है इसलिये उससे अभिन्न है लेकिन सञ्ज्ञा, लक्षण और प्रयोजन की दृष्टि से भिन्न है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि धर्मी ही अनेकान्तात्मक होता है, धर्म नहीं, इसलिये एक ही ज्ञान के तीन धर्मों में अवान्तर भेदों की कल्पना नहीं की जा सकती।

ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान हर ज्ञान में ज्ञात होते है, किसी भी ज्ञान में इनमें से एक की भी प्रतीति का अभाव नहीं होता।

---

1. The Prabhakara School of Purva Mimanca, Page-33.
2. वही - पृष्ठ 40 3. वही पृष्ठ 26 4. प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृष्ठ-123

अध्याय - तीन

चेतना की सविकल्पक स्थिति ज्ञान

हमारे ज्ञान का विषय सदैव कोई न कोई वस्तु होती है। हम उसे उसके धर्मों या विशेषताओं के आधार पर जानते हैं। प्रत्येक निश्चयात्मक ज्ञान के दो अंश होते हैं :- ।1। वह वस्तु जो जानी जा रही है तथा ।2। वे विशेषताएं जिनके द्वारा वह जानी जा रही है। वस्तु की ऐसी विशेषताओं का, जो उसे अन्य वस्तुओं से व्यावृत्त करके उसके विशिष्ट स्वरूप का बोध कराती हैं, ज्ञान होने पर ही हम यह निश्चय कर पाते हैं कि वह क्या है। उदाहरण के लिये जब हमें यह ज्ञात होता है कि "यह घट है" तो इसका आधार उस वस्तु का पृथुबुध्नाकार है, जो मात्र घट का ही होता है, पटादि पदार्थों का नहीं। खुर ककुद, सास्नादिमान व्यक्ति का ही प्रत्यक्ष होने पर हमें यह बोध होता है कि "यह गौ है"।

किसी पदार्थ के प्रति यह निश्चय कि "यह गौ है" उसी व्यक्ति को हो सकता है जो ज्ञान का विषय बन रहे पदार्थ का अंगों से भेद पूर्वक विशिष्ट स्वरूप का ग्रहण कर रहा हो। यह खुर, ककुद, सास्नादिमान व्यक्ति के सामने आने मात्र से नहीं हो जाता। व्यक्ति इन विशेषताओं के ज्ञान पूर्वक गौ को तभी जान सकता है जबकि उसमें गौ का सम्प्रत्यय बन चुका हो; व्यक्ति यह जानता हो कि गायपना (गोत्व) क्या होता है, किन विशेषताओं से युक्त पदार्थ को गाय कहा जाता है। वस्तु का सत्, जीव, द्रव्य आदि किसी भी रूप में ज्ञान तभी हो सकता है जबकि हममें उनके सम्प्रत्यय बन चुके हों, दूसरे शब्दों में हम में उनका सामान्यविशेषात्मक स्वरूप ग्रहण करने की क्षमता हो। किसी भी वस्तु का सम्प्रत्यय उसकी ऐसी असाधारण विशेषताओं से निर्मित होता है जो उस प्रकार की प्रत्येक वस्तु में अनिवार्यतया पायी जाती हैं तथा अन्य प्रकार की वस्तुओं में जिनका अभाव होता है। ये विशेषताएं उस वर्ग की प्रत्येक वस्तु में समान रूप

से पायी जाने के कारण उनका सामान्य स्वरूप हैं तथा ये विशेषताएं ही उस वर्ग की वस्तुओं को अन्य वर्ग की वस्तुओं से पृथक करने के कारण उनका विशेष स्वरूप भी हैं। उदाहरण के लिये ज्ञान, दर्शनादि जीव की ऐसी असाधारण विशेषताएं हैं जिनका जीव मात्र में सद्भाव पाया जाता है तथा जिनका अभाव होने पर पदार्थ अजीव ही कहलाता है। जीव की ऐसी असाधारण विशेषताओं से ही जीव का सम्प्रत्यय बनता है।

प्रत्येक निश्चयात्मक अनुभूति, जिसे "सविकल्पक ज्ञान" कहा जाता है, विकल्पों अथवा सम्प्रत्ययों को लिये हुए होती है तथा इसके द्वारा वस्तु के स्वरूप का निश्चय विजातीय वस्तुओं से भेद पूर्वक उसके विशिष्ट स्वरूप को ग्रहण करते हुए ही होता है। सदैव ज्ञान का यही स्वरूप अनुभव गम्य होता है, पर प्रायः दार्शनिक इसका विश्लेषण करके ज्ञान की ऐसी स्थिति को स्वीकार करने की आवश्यकता महसूस करते हैं जिसमें निश्चय का पूर्णतया अभाव होता है। वे कहते हैं कि किसी भी वस्तु का निश्चय बौद्धिक व्यापार पूर्वक होता है। यह बौद्धिक व्यापार इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के उपरान्त प्रारम्भ होता है। इन्द्रियाँ विषय का साक्षात्कार तो करती हैं पर उसका निश्चय नहीं करतीं। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के प्रथम क्षण की स्थिति को निर्विकल्पक ज्ञान कहा जाता है। इसके आधार पर हम यह नहीं जान सकते कि अर्थ क्या है, किस प्रकार का है। इसमें निश्चय का पूर्ण अभाव होने के कारण यह कभी स्वसंवेदन गम्य नहीं होता तथा सदैव अनुमान द्वारा ही सिद्ध किया जाता है। सविकल्पक ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान तथा उसके उपरान्त हुए बौद्धिक व्यापार द्वारा उत्पन्न होता है।

जैन दार्शनिक ज्ञान के भेद-निर्विकल्पक-सविकल्पक को स्वीकार नहीं करते क्योंकि वे किसी भी ऐसी स्थिति को ज्ञान नहीं कहना चाहते जिसमें विषय के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चय नहीं हुआ हो। यदि किसी वस्तु का ज्ञान हुआ है तो निश्चित रूप से उसके किसी न किसी धर्म का ज्ञान हुआ है, भले ही वह धर्म सामान्यतम - सत्य ही हो। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के प्रथम क्षण की स्थिति में विषय के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं होता, इसलिये जैन दार्शनिक उसे ज्ञान न कह कर " दर्शन " कहते हैं जिसमें किसी विषय

का बोध न होकर आलोचन मात्र होता है।[1] ज्ञान तो सदैव विकल्पों को लिये हुए ही होता है। आचार्य पूज्यवाद कहते हैं "ज्ञान साकार होता है तथा दर्शन निराकार"।[2] साकार शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए वादिराज कहते हैं, "यह घट है, यह पट है अथवा यह जीव है, यह पुद्गल है, इस प्रकार का जो आकार लिये हुए हैं, अथवा यह इस प्रकार का स्वभाव लिये हुए है, अन्य प्रकार का नहीं इस प्रकार के आकार के साथ जो रहता है वह साकार है"।[3]

ज्ञान का काम वस्तु को उसके विशिष्ट स्वरूप में पहचानना है जो उसकी विशेषताओं के ज्ञान पूर्वक होता है। उनके ज्ञान के द्वारा हम वस्तु को अन्यों से पृथक उसके विशिष्ट स्वरूप में जानते हैं।

भारतीय दर्शन में विकल्प शब्द विचार, निर्णय, अध्यवसाय आदि तथा सम्प्रत्यय - जिन्हें पाश्चात्य दर्शन में क्रमशः Judgement तथा Concept कहा जाता है - दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। निर्णय सम्प्रत्ययों को लिये हुए होता है तथा सम्प्रत्यय वस्तु के द्रव्य-पर्यायात्मक, सामान्य-विशेषात्मक स्वरूप के कारण निर्मित होते हैं।

प्रस्तुत अध्याय में हम विभिन्न दर्शनों द्वारा स्वीकृत निर्विकल्पक ज्ञान के स्वरूप का परीक्षण करते हुए इस जैन सिद्धान्त का, कि ज्ञान सविकल्पक ही होता है, अध्ययन करेंगे।

न्याय, मीमांसा और बौद्ध मत - विकल्प योजना निर्विकल्पक ज्ञान पूर्वक ही सम्भव

निर्विकल्पक ज्ञान के पक्ष में प्रथम युक्ति यह है कि किसी भी विषय के सम्बन्ध में निश्चयात्मक बुद्धि की उत्पत्ति में उस विषय के समान वस्तु की स्मृति एक आवश्यक शर्त है। किसी भी वस्तु को देखते ही हमें यह स्मृति होती है कि यह उस वस्तु के समान है

---

1. लघीयस्त्रय 1/5
2. सर्वार्थ सिद्धि 2/9
3. "घटः पट इति वा जीवः पुद्गल इति वा यो अयमतद्रूपरावृत्तो भावस्वभावः स आकारः तेन सह वर्तते इति साकारं।" न्याय विनिश्चय विवरण, भाग्स पृष्ठ-60

जिसे हमने पहले "पुस्तक" कहा था। इस प्रकार इन्द्रियों से साक्षात्कार होने के उपरान्त होने वाले स्मृति और प्रत्यभिज्ञान पूर्वक ही हमें यह बोध होता है कि यह पुस्तक है। इन्द्रियों से प्राप्त होने वाली सम्वेदनाओं के स्तर पर किसी भी प्रकार का निश्चय सम्भव नहीं है क्योंकि इसके लिये सादृश्य मूलक प्रत्यभिज्ञान आवश्यक है। लेकिन इस स्तर पर ज्ञान तो होता ही है, अन्यथा विकल्प विशेष का ही उदय हो, अन्य का नहीं, यह नियम नहीं बन सकता। इसलिये निर्विकल्पक ज्ञान को मानना आवश्यक है। यह किस प्रकार का ज्ञान है इसे स्पष्ट करते हुए श्रीधर कहते हैं " निर्विकल्पक दशा में अन्य वस्तु के अनुसन्धान के अभाव में उसके सामान्य और विशेष धर्मों का ग्रहण नहीं होने के कारण यह निश्चय नहीं हो पाता कि वस्तु क्या है और क्या नहीं है, इसलिये उसका विशिष्ट बोध नहीं होता है। फिर भी वस्तु के स्वरूप का ग्रहण तो होता ही है, क्योंकि स्वरूप के ग्रहण में अन्य की अपेक्षा नहीं होती।[1] कुमारिल कहते हैं कि सर्व प्रथम वस्तु का आलोचन ज्ञान होता है जो निर्विकल्पक है तथा शुद्ध वस्तु विषयक है। यह ज्ञान गूंगे और बहरे व्यक्तियों को होने वाले ज्ञान के सदृश है। इसमें वस्तु के सामान्य और विशेष धर्मों का ग्रहण न होकर उनके आधारभूत व्यक्ति का ग्रहण होता है।[2] उसके बाद उसी वस्तु का नाम, जाति आदि धर्मों के द्वारा बोध होता है।[3] बौद्ध कहते हैं कि वस्तुओं में इन्द्रियों के अन्वय और व्यतिरेक का अनुसरण करने वाला साक्षात्कारी ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है।[4] यह कल्पना से अपोढ़ अर्थात् कल्पना से रहित ज्ञान है। नाम, जाति आदि विकल्प बुद्धि जनित हैं क्योंकि तत्सदृश पूर्वानुभव की स्मृति होने पर इन विकल्पों की योजना होती है और तब निश्चयात्मक बुद्धि उत्पन्न होती है।[5]

---

1. न्याय कन्दली, पृष्ठ-447
2. श्लोक वार्तिक, प्रत्यक्ष परिच्छेद 112-113
3. श्लोक वार्तिक, प्रत्यक्ष परिच्छेद 120
4. न्याय बिन्दु टीका, पृष्ठ - 34
5. न्याय बिन्दु टीका, पृष्ठ-46

निर्विकल्पक ज्ञान को मानने वाले सभी दार्शनिकों के अनुसार सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति निर्विकल्पक ज्ञान पूर्वक ही होती है। सत्, असत्, नित्य, अनित्य, नील, घट, पट आदि किसी भी प्रकार के विकल्प का उदय वस्तु के विकल्प रहित रूप से ग्रहण होने के उपरान्त ही होता है। ज्ञान की यह स्थिति, जिसमें निश्चय का पूर्णतया अभाव है, कभी स्वतः ज्ञात नहीं होती। नैयायिक कहते हैं कि यह अनुमान द्वारा जानी जाती है।[1] तथा बौद्ध कहते हैं कि निर्विकल्पक ज्ञान ने क्या जाना यह उतने अंशों में ज्ञात हो सकता है जितने अंशों में उसके बाद निश्चयात्मक बुद्धि उत्पन्न हो। इस निश्चयात्मक बुद्धि की उत्पत्ति के अभाव में विद्यमान निर्विकल्पक ज्ञान द्वारा जाना गया विषय भी अज्ञात के समान ही है।[2]

जैन दार्शनिक कहते हैं कि ऐसी किसी भी स्थिति को ज्ञान नहीं कहा जा सकता जिसमें विषय के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जाना गया हो। ज्ञान चाहे वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष हो, मनोजन्य हो अथवा अतीन्द्रिय-विषय के किसी न किसी धर्म का निश्चय करते हुए उत्पन्न होता है तथा निश्चय सत्, नील, घट आदि किन्हीं विकल्पों को लिये हुए ही होता है। जैन दार्शनिक निर्विकल्पक ज्ञान के पक्ष में दी गयी इस युक्ति को स्वीकार नहीं करते कि इन्द्रियों से विषय का साक्षात्कार होने पर ही पूर्वानुभवों की स्मृति पूर्वक सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति होती है। वे कहते हैं कि निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान दो पूर्णतया विरोधी स्थितियाँ हैं तथा निर्विकल्पक ज्ञान से कभी भी सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। पूर्णतया निश्चय रहित अवस्था विकल्प

---

1. ज्ञानं यन्निर्विकल्पाख्यं तदतीन्द्रियमिष्यते। न्याय सिद्धान्त मुक्तावली; पृष्ठ-300
2. न तु निर्विकल्पकत्वात् प्रत्यक्षमेव नीलबोधरूपत्वेनात्मानम् अवस्थापयितुम् शक्नोति। निश्चयप्रत्ययेनाव्यवस्थापितं सद् अपि नीलबोध रूपं विज्ञानम् असद्रूपम् एव । तस्मान्निश्चयेन नीलबोधरूपं व्यवस्थापितं विज्ञानं नीलबोधात्मन् सत् भवति। न्याय बिन्दु टीका; पृष्ठ - 9।

विशेष के उदय की नियामक नहीं हो सकती अपितु कुछ धर्मों का प्रत्यक्ष होने पर ही यह निश्चित हो सकता है कि किस विकल्प विशेष का उदय हो। उदाहरण के लिये शीतलता, शुक्ल रूप आदि गुणों का प्रत्यक्ष होने पर तथा उसके सदृश वस्तु, जिसे जल कहा गया था, की स्मृति होने पर और यह उसके सदृश है, इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान होने पर "यह जल है" इस प्रकार की व्यवसायात्मक बुद्धि उत्पन्न होती है। यदि प्रारम्भ में शीतलता, शुक्ल रूप आदि गुणों का बोध नहीं हुआ हो तो जल का ज्ञान भी नहीं हो सकता।[1]

किसी वस्तु के सम्बन्ध में निर्णयात्मक अनुभूति के लिये उसके सदृश पूर्वानुभूत वस्तु की स्मृति की अपेक्षा अनभ्यस्त दशा में ही होती है, अभ्यस्त अवस्था में नहीं।[2] अभ्यस्त दशा, जिसमें हम किसी वस्तु का कई बार प्रत्यक्ष कर चुके हों तथा हममें उसे पहचानने की क्षमता अच्छी तरह विकसित हो चुकी हो, के होने पर वस्तु के सामने आते ही हम उसे पहचान जाते हैं जबकि अनभ्यस्त दशा में हम विषय से पूर्व परिचित तो होते हैं, पर उसे पहचानने के लिये हमें यह सोचना पड़ता है कि इस प्रकार की वस्तु हमने पहले देखी थी जो जल थी। यह उसके सदृश होने के कारण जल है। अनभ्यस्त अवस्था में उसका ज्ञान सदृश वस्तु की स्मृति पूर्वक होने के कारण प्रत्यभिज्ञान तथा अभ्यस्त अवस्था में प्रत्यक्ष कहलाता है।

किसी भी वस्तु का ज्ञान होने की अनिवार्य शर्त सदृश वस्तु की स्मृति न होकर तद्विषयक लब्धि तथा उपयोग है। आत्मा में किसी विषय के ज्ञान पर आवरण डालने वाले कर्मों के क्षयोपशम से आत्मा में उस विषय को जानने की क्षमता विकसित हो जाती है जिसे लब्धि कहते हैं। विषय को जानने की क्षमता के अभाव में विषय के सम्मुख आने मात्र से वह ज्ञात नहीं हो सकता। किसी वस्तु को जान सकने की शक्ति के होने पर तथा अन्य अनुकूल परिस्थितियाँ मिलने पर व्यक्ति के विषय को जानने की प्रवृत्ति या व्यापार को उपयोग कहते हैं जिसके द्वारा ही विषय ज्ञात होता है।

----

1. सिद्धि विनिश्चय टीका, पृष्ठ - 27
2. सिद्धि विनिश्चय टीका, पृष्ठ -115

किसी भी वस्तु के ज्ञान पर आवरण डालने वाले कर्मों का जितने अंशों में ह्रास होता है उतने अंशों में व्यक्ति में उस वस्तु के विशिष्ट स्वरूप को ग्रहण करने की क्षमता विकसित हो जाती है। किसी व्यक्ति में घट को जानने की क्षमता है इसका तात्पर्य है कि वह यह जानता है कि घट होने का अर्थ क्या होता है। वह घट और अघट में अन्तर कर सकता है।

हमारे अनुभव हमारी जानने की क्षमता में निरन्तर वृद्धि करते हैं। हर नया अनुभव हमारी जानने की क्षमता को विकसित करता है। हम जितने-जितने किसी विषय को जानने की ओर प्रवृत्त होते हैं उतनी-उतनी तद्विषयक लब्धि विकसित होती जाती है। एक बार किसी वस्तु को जानने की क्षमता विकसित हो जाने पर, दूसरे शब्दों में उसका स्पष्ट रूप से सम्प्रत्यय बन जाने पर विकल्पों के उदय में सदृश वस्तु के पूर्वानुभव की स्मृति की अपेक्षा नहीं रहती अपितु विषय से सम्पर्क होने के अनन्तर ही उसका अध्यवसाय प्रारम्भ हो जाता है। वस्तु के सत्व जैसे सामान्यतम धर्म की अनुभूति प्रत्यक्ष से प्राणी मात्र को होती है। वे अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार रूप; रस आदि विशेष धर्मों को भी जानते हैं। इन धर्मों के वैशिष्ट्य को वे कितना अधिक जान सकते हैं यह उनके ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम पर निर्भर करता है।

इन्द्रियानुभव भी निश्चयात्मक होता है :-

जड़ होने के कारण इन्द्रियाँ विषय-बोध की कर्ता न होकर उसका उपकरण या साधन मात्र हैं। इनके द्वारा भी विषय सदैव सविकल्पक रूप से ज्ञात होता है। हमें इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का ज्ञान होता है। इसके ज्ञात होने का तात्पर्य है कि हम इन्हें अन्यों से पृथक इनके विशिष्ट स्वरूप में पहचानते हैं। हम इन्द्रियों से विषय को कितने विशिष्ट स्वरूप में ग्रहण कर सकते हैं यह हमारी जानने की क्षमता पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिये जब तक हम में पृथुबुध्नाकार को ग्रहण करने की सामर्थ्य विकसित नहीं होती, इन्द्रियाँ आकार मात्र को ग्रहण करती हैं। एक बार इस क्षमता के विकसित हो जाने पर पृथुबुध्नादि आकार से युक्त अर्थ (घट) के सम्मुख आने पर चक्षु इस विशिष्ट आकार से युक्त अर्थ (घट) का ही बोध कराती है।

कहा जाता है कि इन्द्रियों के द्वारा रूप, रसादि की अनुभूति तो होती है पर उस अनुभूति में "यह रूप है" इस प्रकार के निश्चय का पूर्णतया अभाव होता है। यह निश्चयात्मक बुद्धि तो उस अनुभूति के उपरान्त ही उत्पन्न होती है।

जैन दार्शनिक कहते हैं कि यदि इन्द्रियानुभव के स्तर पर निश्चय का अभाव हो तो कभी भी किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता। किसी भी वस्तु का सम्प्रत्यय उसके एक या एकाधिक बार प्रत्यक्ष होने पर बनता है। उसके अवच्छेदक धर्म प्रत्यक्ष द्वारा ही ज्ञात होते हैं। सविकल्पक ज्ञान को पूर्वानुभवों की स्मृति पर आधारित मानने से अनवस्था दोष आता है क्योंकि उस अनुभव की निश्चयात्मकता उनके पूर्व के अनुभवों पर आधारित होगी तथा उनकी निश्चयात्मकता अन्य अनुभव पर। इस दोष से बचने के लिए कहीं न कहीं अनुभव को निश्चयात्मक-वस्तु के सामान्य विशेष स्वरूप का ग्राहक मानना आवश्यक है।[1] प्रत्यक्ष हमारे समस्त ज्ञान में आधार भूत स्थान रखता है। अन्य सभी प्रमाण प्रत्यक्ष की सहायता पूर्वक ही ज्ञान करा सकते हैं। अनुमान, उपमान आदि सभी प्रमाण वर्तमान में किसी वस्तु के प्रत्यक्ष तथा भूतकाल में प्रत्यक्ष की गयी वस्तु के स्मरण पूर्वक ही प्रवृत्त होते हैं। यदि प्रत्यक्ष में वस्तु अन्यों से पृथक अपने स्वरूप में नहीं जानी गयी हो तो उसकी स्मृति कभी नहीं हो सकती। निश्चयात्मक प्रत्यक्ष के संस्कार ही भविष्य में उसकी स्मृति करा सकते हैं।[2] जबकि निश्चय रहित अवस्था के संस्कार ही शेष नहीं रहते जिससे उसकी स्मृति हो सकें।

प्राय: ज्ञान की निश्चयात्मकता को भाषा से सम्बन्धित माना जाता है। निर्णय का आकार "यह घट है" रूप होता है जो कि एक वाक्य होने के कारण शब्दात्मक है। इस मान्यता के अनुसार किसी भी वस्तु के अध्यवसाय का तात्पर्य है उस वस्तु के वाचक शब्द का प्रयोग। भर्तृहरि ज्ञान मात्र को सविकल्पक मानते हैं। वे कहते हैं कि ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्द रहित हो। ज्ञान सदैव वाचक शब्द विशिष्ट अर्थ का ज्ञान होता है। जिस प्रकार अग्नि स्वभाव से ही प्रकाशक होती है, ~~उसी प्रकार ज्ञान भी स्वभाव से ही~~

----

1. न्याय विनिश्चय विवरण, भाग-1 पृष्ठ
2. व्यवसायात्मनो दृष्टे संस्कार स्मृतिरेव वा। सिद्धि विनिश्चय 1/4
3. वाक्य पदीय - 115

~~प्रकाशक होती है~~ उसी प्रकार ज्ञान भी स्वभाव से ही शब्दानुतबिद्ध होता है।[1] यहाँ तक कि बच्चे भी अर्थ को अपने पूर्व जन्म के संस्कारों से वाचक शब्द विशिष्ट रूप से जानते हैं।[2] दिड्नाग कहते हैं कि शब्द और विकल्प परस्पर अविनाभावी हैं। जहाँ शब्द होते हैं वहाँ विकल्प होते हैं तथा जहाँ विकल्प होते हैं वहाँ शब्द होते हैं।[3]

धर्मकीर्ति कहते हैं कि विकल्प सदैव शब्द संसर्ग युक्त होते हैं तथा शब्द प्रयोग अर्थ के दर्शन के उपरान्त संकेत स्मरण पूर्वक होता है। संकेत स्मरण इन्द्रियों का विषय नहीं है। इसलिये प्रत्यक्ष अर्थ को कल्पना पोड़ रूप से अर्थात् निर्विकल्पक रूप से ही जानता है।[4] यदि अर्थ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष गम्य नहीं हो तो शब्द योजना पूर्वक सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती।

जैन दार्शनिक कहते हैं कि सविकल्पक ज्ञान सदैव शब्दात्मक नहीं होता। इन्द्रिय प्रत्यक्ष शब्द रहित रूप से ही अर्थ को जानता है। चक्षु द्वारा रूप का ही बोध होता है, "रूप" शब्द का नहीं क्योंकि इसके समान शब्द भी चक्षु का विषय नहीं है।[5] किसी भी वस्तु के लिये नाम का प्रयोग वही व्यक्ति कर सकता है जिसने उस वस्तु को देखा हो तथा जिसे तत् सदृश पूर्वानुभूत वस्तु को दिये हुए नाम की स्मृति हो।[6] यदि प्रत्यक्ष निश्चय रहित है तो देखी हुई वस्तु भी नहीं देखी हुई के समान ही है। तब इन्द्रिय प्रत्यक्ष के अभाव में भी सविकल्पक ज्ञान हो सकता है।[7] वादिराज कहते हैं कि यदि सविकल्पक ज्ञान शब्दात्मक ही हो सकता है तब भी इतना तो निश्चय है कि प्रथम दर्शन काल में ही वाचक शब्द का ज्ञान नहीं होता, अन्यथा संकेत की व्यर्थता का प्रसंग आता है।

---

1. वाक्य पदीय - 116
2. वाक्य पदीय - 113
3. अपोह सिद्धि, पृष्ठ-30
4. प्रमाण वार्तिक 123 तथा 129
5. प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृष्ठ-41
6. अष्ट सहस्त्री, पृष्ठ-119
7. अष्ट सहस्त्री, पृष्ठ-122

अतः शब्दात्मक बोध नाम स्मृति पूर्वक ही होता है। प्रश्न उठता है कि नाम की स्मृति अनिर्णीत अर्थ के प्रति होती है अथवा निर्णीत अर्थ के प्रति। यदि अनिर्णीत अर्थ के प्रति होती है तो जिस भी किसी विषय में शब्द योजना हो जाय उसी का निर्णय हो जाना चाहिये तथा किसी भी प्रकार के विवाद की सम्भावना नहीं रहनी चाहिये। "दानादि से स्वर्ग की प्राप्ति होती है" इसप्रकार की शब्द योजना से इस सम्बन्ध में निर्णय होकर विवाद की समाप्ति हो जानी चाहिये पर ऐसा नहीं होता । यदि कहा जाय कि निर्णीत अर्थ के प्रति शब्द योजना होती है तो अन्योन्याश्रम दोष आता है। तब ज्ञान के शब्दात्मक होने पर ही अर्थ का निर्णय हो सकता है तथा अर्थ का निर्णय होने पर ही उसके लिये शब्द योजना की जा सकती है।[1]

यदि "रूप" शब्द के प्रयोग के बिना रूप का निश्चय नहीं हो तो "रूप" शब्द का प्रयोग कभी नहीं किया जा सकता। वस्तु के स्वरूप का निश्चय हो जाने के बाद ही उसके लिये शब्द विशेष का प्रयोग किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। किसी भीवस्तु के लिये नाम विशेष का प्रयोग वही व्यक्ति कर सकता है जिसे उस वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान हुआ हो तथा जिसे तत्सदृश पूर्वानुभूत वस्तु को दिये हुए नाम की स्मृति हो। किसी भी वस्तु के लिये "नीला" शब्द का प्रयोग तभी किया जा सकता है, जबकि हमें उसके विशिष्ट स्वरूप - उसके ऐसे स्वरूप का ज्ञान हो जाय जो मात्र नीले पदार्थों का ही हो सकता है, नीलातिरिक्त पदार्थों का नहीं। इस निर्णय के लिये "नीला" शब्द का प्रयोग नहीं अपितु वस्तु में स्थित 'नीलत्व' विशेषण का ज्ञान होना आवश्यक है। इसका ज्ञान होने पर ही पूर्व में तत्सदृश वस्तु को दिये गये नाम की स्मृति पूर्वक यह कहा जा सकता है कि यह पदार्थ नीला ही है, पीला या लाल नहीं।

यदि वस्तु के स्वरूप के निर्णय तथा उसके वाचक शब्द के प्रयोग में कोई अन्तर नहीं हो तो हम कभी किसी वर्णन के संबंध में यह नहीं कह सकते कि यह सही है अथवा गलत

---

1. न्याय विनिश्चय विवरण, भाग - 1, पृष्ठ - 136

यह तो तभी कहा जा सकता है जबकि वस्तु स्थिति का निर्णय शब्द प्रयोग से स्वतन्त्र हो। शब्द तो संकेत मात्र है जो उस निर्णय की ओर संकेत करते हैं तथा उसी व्यक्ति के लिये सार्थक हैं जो उन शब्दों के द्वारा संकेतित पदार्थ तक पहुँच सके। उन संकेतों से संकेतित तक पहुँचने का तात्पर्य पदार्थ को निश्चयात्मक रूप से जानना है। निश्चय का अर्थ है - वह उसके विशिष्ट स्वरूप को पहचान सके तथा अन्यों से अलग कर सकें। इसका आधार वाचक शब्द का प्रयोग न होकर वस्तु के विशेषणों का बोध है जो उसके स्वरूप के नियामक हैं।

न्याय वैशेषिक मत :- निर्विकल्पक-ज्ञान एक तार्किक आवश्यकता :-

नैयायिक कहते हैं कि किसी भी वस्तु के प्रति विशिष्ट बुद्धि की उत्पत्ति होने के लिये यह आवश्यक है कि उसके विशेषणों का ज्ञान हो। विशेषण वस्तु के स्वरूप के सम्पादक तथा उसके अवच्छेदक या व्यावर्तक अर्थात् उसे अन्य से पृथक करने वाले होते हैं। इन विशेषणों के जाने बिना हम यह नहीं जान सकते कि वस्तु क्या है और क्या नहीं है। उदाहरण के लिये "यह घट है" यह सविकल्पक ज्ञान तभी हो सकता है जबकि हम "यह" के विशेषण "घटत्व" को जानते हों, जिसके कारण वह वस्तु घटकहलाती है, पटादि नहीं। "नील अश्व" इस विशिष्ट बुद्धि में "नील" अश्व का विशेषण है क्योंकि यह अश्व को अन्य रंगों के अश्वों से अलग करता है। इस विशिष्ट बुद्धि में नील का ज्ञान तभी सम्भव है जबकि हमें "नीलत्व" का ज्ञान हो तथा अश्व के ज्ञान के लिये " अश्वत्व" का ज्ञान होना आवश्यक है। इस प्रकार गुण,कर्मादि किसी वस्तु के विशेषण हो सकते हैं जो कि अन्य विरोधी गुण, कर्मादि को व्यावृत्त करके उसका विशिष्ट बोध कराते हैं। सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म तीनों के स्वरूप का नियामक होता है तथा किसी भी पदार्थ को उसके विशेष स्वरूप में तभी पहचाना जा सकता है, जबकि हमें उसमें स्थित सामान्य का ज्ञान हो।

विशेषण ज्ञान विशेष्य ज्ञान के प्रति कारण होता है, इसलिये सविकल्पक ज्ञान के पूर्व निर्विकल्पक ज्ञान को मानना आवश्यक है। विश्वनाथ कहते हैं - "ज्ञान जो कि निर्विकल्पक है वह अतीन्द्रिय माना जाता है।"[2]

चक्षु संयोग के बाद "घट" इस प्रकार का "घटत्व" आदि विशेषणों से युक्त ज्ञान सम्भव नहीं है उसके पहले विशेषण रूप घटत्व आदि के ज्ञान के न होने से, क्योंकि विशिष्ट ज्ञान के होने में विशेषण ज्ञान कारण होता है। इसलिये पहले घट और घटत्व के विशेषण विशेष्य भाव को ग्रहण करने वाला ज्ञान ही उत्पन्न होता है, वही "निर्विकल्पक" माना जाता है और यह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता।"[1]

प्रत्येक सविकल्पक ज्ञान में तीन बातों का ज्ञान होता है - विशेषण, विशेष्य तथा उन दोनों के मध्य सम्बन्ध का ज्ञान । दो पदार्थों के मध्य सम्बन्ध तभी जाना जा सकता है, जबकि दोनों की पृथक-पृथक उपलब्धि हो। इसलिये सविकल्पक ज्ञान के पूर्व निर्विकल्पक ज्ञान की सत्ता स्वीकार करना आवश्यक है।

जैन मत :-

न्याय वैशेषिक दर्शन का उपर्युक्त सिद्धान्त इस पूर्व मान्यता पर आधारित है कि विशेषण और विशेष्य दो भिन्न-भिन्न पदार्थ होते हैं। जैन दार्शनिक कहते हैं कि कभी भी भिन्न विशेषण विशेष्य के प्रति विशिष्ट बुद्धि की उत्पत्ति नहीं कर सकता। वस्तु की विशेषताएं उसकी परिचायक होती हैं तथा उनको जान कर ही हम उस वस्तु को जान सकते हैं। पर ऐसा इसलिये होता है कि विशेषण विशेष्य को अपने से अनुरंजित किये हुए होता है, उसका स्वभाव होता है, दोनों के मध्य तादात्म्य सम्बन्ध होता है।

किसी भी वस्तु को जानने का अर्थ है उसके स्वरूप को जानना। किसी भी वस्तु का स्वरूप उसका अवयव संघठन तथा गुण, धर्म या विशेषताएं होती हैं। खूर, ककूद, सास्नादि अवयवों के बोध होने पर हमें गाय का तथा एक विशेष आकार, गन्ध, रस आदि का अनुभव होने पर हमें आम का अनुभव होता है। ऐसा इसलिये होता है कि खूर, सास्नादि से युक्त अवयव संघठन गाय का स्वरूप है तथा गाय से भिन्न किसी भी पशु में यह नहीं पाया जाता। इसी प्रकार विशेष आकार, गन्ध, रस आदि आम के स्वरूप

---

1. न्याय सिद्धान्त मुक्तावली, पृ० - 300

विशेषण
के नियामक हैं। सर्वत्र विशेष्य के स्वरूप के नियामक होते हैं तथा विशेष्य उनसे नियमित होने के कारण उनके बोध पूर्वक ही ज्ञात होता है।[1]

वादिराज कहते हैं कि जिसके द्वारा लक्षित किया जाता है अर्थात् ग्रहण किया जाता है वह लक्षण है। वस्तु का स्वरूप ही उसका लक्षण है इसलिये वह "स्वलक्षण" अर्थात् स्वयं ही अपना लक्षण है। वस्तु चेतन या अन्य प्रकार की है तथा उससे भिन्न उसका लक्षण नहीं है। वैशेषिक मानते हैं कि अन्य के द्वारा ही यथा क्रियावत्त्वादि रूप से ही द्रव्य का लक्षण होता है। प्रश्न उठता है कि क्रियावान होना इस लक्षण से द्रव्य का ही ग्रहण क्यों किया जाता है, गुणादि का क्यों नहीं? यदि कहा जाय कि क्रियावानता मात्र द्रव्य में ही रहती है तो यदि क्रियावानता द्रव्य का स्वभाव होने से द्रव्य से तादात्म्य संबंध रखती हो तब तो कोई समस्या नहीं है, यदि यह उससे भिन्न है तो अभी तक हम यह नहीं जानते कि द्रव्य क्या है और इसलिये यह नहीं कह सकते कि क्रिया वान होना द्रव्य का ही लक्षण है, गुणादि का नहीं।[2] विशेषण या लक्षण विशेष्य से भिन्न होने पर उसके प्रति निश्चयात्मक बुद्धि उत्पन्न नहीं कर सकता। विशेषण ज्ञान में विशेषण अन्य सब से व्यावृत्त अपने विशिष्ट स्वरूप में ज्ञात होता है, तथा विशेष्य भी अन्य होने के कारण उससे व्यावृत हो जाता है तब विशेषण विशेष्य ज्ञान के प्रति कारण किस प्रकार हो सकता है।

लक्षण या विशेषण का काम विशेष्य को अन्य वस्तुओं से पृथक करके ज्ञात कराना होता है। प्रश्न उठता है कि पृथक विशेषण विशेष्य के प्रति अन्य पदार्थों से व्यावृत्त बुद्धि किस प्रकार उत्पन्न कर सकता है? किसी भी वस्तु का स्वरूप ही उसे अन्य वस्तुओं से पृथक कर सकता है। यदि वह स्वरूपतः अन्य वस्तुओं से पृथक रूप में ज्ञात नहीं हो तो उससे भिन्न कोई भी वस्तु इस कार्य को नहीं कर सकती।[3] स्वरूप बोध होने पर पर रूप व्यावर्तन स्वतः हो जाता है, तथा पर रूप निषेध के अभाव में स्वरूप बोध भी असम्भव है।

---

1. स्वयंभू स्त्रोत - 13/4
2. न्याय विनिश्चय विवरण, भाग-1, पृष्ठ - 453
3. न्याय विनिश्चय विवरण, भाग-1, पृष्ठ - 454

कहा जा सकता है कि सविकल्पक ज्ञान विशेष्य तथा विशेषण के मध्य संबंध स्थापना पूर्वक होता है । प्रत्येक विशिष्ट बुद्धि में तीन तत्व होते हैं । विशेषण, विशेष्य तथा उन दोनों के मध्य सम्बंध जो दोनों के भिन्न होने तथा दोनों की पूर्व में पृथक पृथक उपलब्धि होने पर ही सम्भव है । यदि लक्षण और लक्ष्य, विशेषण और विशेष्य दोनों में एकत्व है तो या तो दोनों ज्ञात होंगे या दोनों अज्ञात तथा ऐसी स्थिति में एक को दूसरे के ज्ञान के प्रति कारण मानने का कोई अर्थ नहीं रहेगा ।

जैन दार्शनिक कहते हैं कि सम्बन्धियों की विशेष प्रकार से स्थिति ही सम्बंध है । सम्बन्धियों से पृथक् सम्बंध की सत्ता नहीं है । विशेषण और विशेष्य में अपेक्षा विशेष से अभेद होने के साथ ही साथ अन्य अपेक्षा से भेद भी होता है तथा इसलिये उन दोनों के मध्य संयोजना पूर्वक सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है ।[1] किसी पदार्थ का असाधारण धर्म उसका लक्षण होता है तथा धर्म और धर्मी में संख्या, संज्ञा, लक्षण, प्रयोजनादि की दृष्टि से भेद होते हुए भी तादात्म्य संबंध होता है क्योंकि धर्मी अपने समस्त धर्मों में व्याप्त होता है । धर्मों के अन्योन्य अभेद के अतिरिक्त धर्मी कुछ नहीं है । वस्तु के साधारण असाधारण सभी धर्म उसके विशेषण होते हैं जो उसे विजातीय वस्तुओं से व्यावृत करते हैं । कई बार भिन्न वस्तुओं को भी उपचार से विशेषण कहा जाता है पर वास्तव में वस्तु अपनी स्वरूपगत विशेषताओं से ज्ञात होती है । उदाहरण के लिये "दण्डी पुरूष" यह प्रतीति दण्ड से संयुक्त पुरूष के ज्ञात होने पर होती है । इस ज्ञान में दण्ड उपचार से ही विशेषण है । वास्तव में तो पुरूष अपनी एक अवस्था विशेष दण्ड से संयुक्त अवस्था से ही दण्डी रूप में ज्ञात हो रहा है ।

यदि सम्बन्ध को संबंधियों से पृथक मान कर तथा सम्बंध स्थापित करने के लिये उनकी पूर्व में पृथक-पृथक उपलब्धि मानने पर प्रश्न उठता है कि दण्ड और पुरूष पृथक-पृथक निर्विकल्पक रूप से ज्ञात होते हैं या सविकल्पक रूप से ? यदि प्रथम विकल्प को स्वीकार किया जाय तो वे दोनों अज्ञात ही हैं और अज्ञात संबंधियों में संबंध की स्थापना असंभव है । यदि वे सविकल्पक रूप से ज्ञात होते हैं तो वे भी विशेषण ज्ञान पूर्वक ज्ञात होंगे ।

---

1. न्याय विनिश्चय विवरण, भाग-1 पृष्ठ-158

दण्ड अपने विशेषण - अवयवों तथा पुरूष अपने अवयवों के ज्ञान पूर्वक ज्ञात होगा। दण्ड और उसके अवयवों के सम्बन्ध की स्थापना के लिये उन दोनों की भी पृथक-पृथक उपलब्धि आवश्यक है। दण्ड के अवयवों के सविकल्पक रूप से ज्ञात होने के लिये उसके अवयवों का ज्ञान होना आवश्यक है तथा अन्त में एक स्थिति ऐसी आयेगी कि अवयवों के अवयव की सविकल्पक बुद्धि की उत्पत्ति के लिये परमाणुओं का ज्ञान आवश्यक होगा। परमाणु इन्द्रिय गम्य नहीं हैं, इसलिये वे जिस कार्य द्रव्य के विशेषण हैं वह अज्ञात होगा। उसके अज्ञात होने पर उससे निर्मित अवयवी तथा इस तरह कभी दण्ड भी ज्ञात नहीं हो सकेगा। इस प्रकार विशेषण और विशेष्य कीपृथक-पृथक उपलब्धि पूर्वक ही सविकल्पक ज्ञान की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है।[1]

हमें कभी भी ऐसी अनुभूति नहीं होती है कि धर्म और धर्मी की पृथक-पृथक उपलब्धि हो रही है। यह कहने का भी कोई अर्थ नहीं है कि इस प्रकार का ज्ञान अनुमान से सिद्ध है क्योंकि ज्ञान सदैव स्व संवेदी होता है तथा ज्ञान को अज्ञात कहना स्व-वचन विरोध है।

तार्किक रूप से भी धर्म और धर्मी की पृथक-पृथक उपलब्धि की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि धर्म सदैव किसी धर्मी का होता है तथा धर्मों से रहित धर्मी निस्वभाव होता है। निस्वभाव पदार्थ की सत्ता नहीं होती तब उसकी उपलब्धि किस प्रकार हो सकती है। किसी भी वस्तु को जानने का अर्थ है उसके स्वरूप को जानना। वस्तु का स्वरूप उसके अवयव, गुणादि विशेषताएं ही हैं जिनका वैशिष्ट्य उस वस्तु का वैशिष्ट्य है तथा जिन्हें जानना ही उस वस्तु के विशिष्ट स्वरूप को जानना है। निर्विकल्पक ज्ञान को मानने वाले सभी दार्शनिक उसमें पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का बोध मानते हैं पर वस्तु का स्वरूप तो उसके अवयव, गुणादि ही हैं। यदि इन्हें वस्तु का स्वरूप नहीं माना जाय तो वस्तु अन्य विशेषताओं को लिये होगी तथा जो ज्ञान उसके स्वरूप को जानेगा वह उन विशेषताओं को ही जानेगा। अतः ज्ञान में धर्म धर्मी भाव अनिवार्यतः होगा।

----

1. न्याय विनिश्चय विवरण; भाग-1, पृष्ठ - 16।

-: :-

धर्म और धर्मी दोनों ही सर्वात्मक नहीं होते अपितु उनका एक निश्चित स्वरूप होता है, तथा अन्य रूपों का उनमें अभाव होता है। उस निश्चित स्वभाव का बोध हमें तभी हो सकता है, जबकि हम में उसे ग्रहण करने की क्षमता विकसित हो चुकी है - हम में उसका सम्प्रत्यय बन चुका हो। 'यह अश्व लाल है' यह बोध तभी हो सकता है जबकि हम जानते हों कि लाल होने का अर्थ क्या होता है तथा अश्व होने का अर्थ क्या होता है। इस सविकल्पक स्थिति से भिन्न किसी साक्षात्कार मात्र, जिसमें किसी प्रकार का निर्णय नहीं हो, से वस्तु का निश्चित विशिष्ट स्वरूप ज्ञात नहीं होता। इसलिये उसे ज्ञान कहने का कोई अर्थ नहीं है।

------ x ------

अध्याय - चार

ज्ञान का विषय

अनेकान्तात्मक अर्थ ज्ञान का विषय :-

ज्ञान की सम्प्रत्ययात्मकता तथा निश्चयात्मकता वस्तुओं के वर्गीकरण की सम्भावनाओं पर आधारित है तथा वर्गीकरण वस्तु के द्रव्य-पर्यायात्मक, सामान्य-विशेषात्मक स्वरूप के कारण ही सम्भव हो सकता है, अन्यथा नहीं।

सविकल्पक ज्ञान धर्मी/धर्म भाव को लिये हुए होता है। हम हरित वर्ण, विशेष आकार आदि कुछ गुणों को जानकर कहते हैं कि यह पत्ता है। तना, शाखाओं, पत्तों आदि के ज्ञान पूर्वक वृक्ष का ज्ञान होता है। प्रश्न उठता है कि हम अनेक अवयवों और गुणों के ज्ञान को एक वस्तु का ज्ञान क्यों कहते हैं तथा एक विशेष वस्तु का ही ज्ञान क्यों कहते हैं अन्य वस्तु का ज्ञान क्यों नहीं कहते ? तना, शाखाओं, पत्तों आदि के ज्ञान पूर्वक हम यह क्यों कहते है कि यह वृक्ष है, उसे मनुष्य अथवा पशु क्यों नहीं कहते ?

जैन दार्शनिक कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु का अपना एक निश्चित, विशिष्ट स्वरूप होता है, जो उसके गुणों तथा अवयवों से निर्धारित होता है। वस्तु के अवयव तथा गुण उसके विविध पक्ष हैं - अंश हैं - स्वभाव हैं। इसलिये उनका ज्ञान उस वस्तु का ही ज्ञान है। वादिराज कहते हैं कि वस्तु अनेक स्वभावों यथा - आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इन सहभावी स्वभावों तथा सुप्त, प्रबुद्ध आदि क्रमभावी स्वभावों को लिये हुए होता है। इन रूपों का ग्रहण उस वस्तु का ही कथंचित् ग्रहण है। जिस समय वस्तु एक स्वभाव से गृहीत होती है, उस समय अन्य स्वभाव से अगृहीत भी रहती है। इस प्रकार का भेद होने के कारण

इस आधार पर उनमें भेद का आरोप करके उन्हें, गुण संज्ञा दी गयी है तथा गुण गुणी इस प्रकार का व्यवहार किया जाता है । यदि इस आधार पर स्वभाव को भाव से पूर्णतया भिन्न मान लिया जाय तो भाव की सत्ता ही नहीं रहेगी । वह किसी न किसी स्वभाव में अवस्थित होकर ही सत् हो सकता है । यदि वह स्वभाव भी उससे भिन्न हो तो वह अन्य स्वभाव में अवस्थित होगा । इस प्रकार अनवस्था दोष आता है ।[1]

विद्यानन्दि कहते हैं कि धर्म और धर्मी कथंचित् भेद-अभेद स्वरूप हैं । कथंचित् भेद ही धर्म तथा कथंचित् अभेद ही धर्मी है । यह कथंचित् भेदाभेद ही कथंचित् तादात्म्य है । तादात्म्य में तत् शब्द का अर्थ है - वह वस्तु तथा इसका पूरा अर्थ है कि भेदाभेद उस वस्तु की आत्मा है । "कथंचित्" इस विशेषण को लगाने से एक दूसरे की अपेक्षा से रहित सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद का निराकरण हो जाता है तथा परस्पर सापेक्ष भेदाभेद की स्थापना होती है ।[2]

धर्म और धर्मी के अभेद का तात्पर्य है कि धर्मी धर्म रूप तथा धर्म-धर्मी रूप है तथा इनके भेद का अर्थ है कि जो लक्षण धर्म का है वही धर्मी का नहीं है । धर्मों की संख्या अनेक होती है, धर्मी एक होता है।इनके नाम भिन्न भिन्न होते हैं । लेकिन इससे ये पूर्णतया भिन्न नहीं हो जाते । अपितु ये एक ही वस्तु के विभिन्न अंश हैं तथा इनकी समग्रता ही वह वस्तु है । वस्तु के भेद पक्ष का जैन ग्रंथों में सर्वाधिक प्रसिद्ध पर्यायवाची शब्द है "पर्याय" तथा इसे कभी 'धर्म,' कभी 'एक देश,' कभी 'अंश' कहा जाता है [3] तथा अभेद पक्ष का द्योतक द्रव्य शब्द है ।

---

1. न्याय विनिश्चय विवरण,भाग-2,पृष्ठ-95-96
2. आप्त परीक्षा,पृष्ठ 89
3. सिद्धि विनिश्चय टीका, पृष्ठ 375

वस्तु के इसी भेदाभेदात्मक - एकानेकात्मक-द्रव्य-पर्यायात्मक स्वरूप के कारण ही हम कुछ गुणों और अवयवों के ज्ञान पूर्वक वस्तु को जानते हैं । जब हमें हरे रँग तथा विशेष आकार के बोध पूर्वक पत्ते का ज्ञान होता है तो इसका कारण यह है कि पत्ता ही इन रूपों में अवस्थित है । ये पत्ते के ही पक्ष हैं तथा इनको जानना पत्ते को ही जानना है । वृक्ष तना, शाखाओं और पत्तों रूप से ही अवस्थित है । अतः इनका ज्ञान एक वृक्ष का ही ज्ञान है ।

प्रत्येक वस्तु का अपना निश्चित विशिष्ट स्वरूप उसमें अन्य रूपों के अभाव पूर्वक ही होता है । उसके विशेष गुण, अवयव संघटन, शक्तियाँ तथा उपयोगितायें होती है तथा इनके विरोधी गुणों का अभाव होता है । किसी भी वस्तु को जानना उसके स्वरूप को जानना है । वस्तु का साक्षात्कार मात्र स्वरूप बोध नहीं है अपितु यह निश्चय कि वह क्या है, स्वरूप बोध है । हमारे समक्ष वस्तु के विविध पक्ष आते हैं तथा जब हम उन्हें पहचानते हैं तब वह ज्ञात कही जाती है । इस पहचानने का अर्थ यह है कि हम उसे विरोधी स्वरूप वाली वस्तुओं से पृथक कर सकें । यदि हम वृक्ष को अवृक्ष से पृथक नहीं कर सकते तो हम किसी वस्तु के सामने आने पर उसे वृक्ष रूप में नहीं पहचान सकते । वृक्ष को वृक्ष रूप में पहचानना उसके वृक्षत्व को पहचानना है जो उसे अवृक्षों से पृथक करता है । यह "वृक्षत्व" वृक्ष से भिन्न पदार्थ नहीं है अपितु वस्तु का ऐसा असाधारण स्वरूप है, उसकी ऐसी विशेषतायें हैं जो जिस जिस में पायी जाती हैं उसे वृक्ष ही कहा जाता है तथा जो किसी भी अवृक्ष में नहीं पायी जाती । इस प्रकार वस्तु में स्थित सादृश्य ही सामान्य है जिसके कारण समान वस्तुओं का समान ज्ञान होता है तथा उन्हें एक नाम दिया जाता है । वस्तु की जो विशेषताएं कुछ वस्तुओं से सादृश्य रखती हैं वे ही विजातीय वस्तुओं से उस वस्तु की विलक्षणता भी बताती है और उनसे पृथक

करती है, इसलिये विशेष रूप भी है । दूसरे शब्दों में जो सामान्य है वही विशेष है, क्योंकि जिन विशेषताओं के कारण वस्तु को एक वर्ग के अन्तर्गत रखा जाता है वे ही उसे अन्य वर्गों की वस्तुओं से व्यावृत कर देती हैं ।

वस्तु अपने भावाभावात्मक, सामान्य-विशेषात्मक स्वरूप के कारण सदैव विधि-निषेधात्मक रूप से ही ज्ञात होती है । "वस्तु क्या है, यह ज्ञात होते ही यह भी ज्ञात हो जाता है कि वह क्या नहीं है । यदि उसका निषेधात्मक पक्ष ज्ञात नहीं हो तो उसके विधेयात्मक पक्ष को भी ज्ञात नहीं कहा जा सकता ।

जब भी हम किसी वस्तु को कोई नाम देते हैं उसके किसी लक्षण के कारण देते हैं । इस नामकरण का प्रयोजन उसे इस लक्षण से रहित वस्तुओं से व्यावृत्त करना होता है । यह व्यावृत्ति समान स्तर की वस्तुओं में स्थित वैशिष्ट्य के आधार पर होती है तथा वस्तुओं में स्थित वैशिष्ट्य के प्रति विधेयात्मक बुद्धि उत्पन्न होने पर स्वतः हो जाती है । उदाहरण के लिये जब हम किसी रंग को "नीला" कहते हैं तो इसका आधार उस रंग का ऐसा विशिष्ट स्वरूप है जो अन्य रंगों में नहीं पाया जाता तथा उसके इस विशिष्ट स्वरूप की ओर निर्देश के लिये ही हम उसे "नीला" कहते हैं जिससे अन्य रंगों की व्यावृत्ति स्वतः हो जाती है । जब हमारा लक्ष्य विभिन्न रंगों के मध्य स्थित अंतर को देखना नहीं होता तब हम उन्हें "नीला रंग", "पीला रंग" आदि न कह कर "रंग" ही कहते हैं जो उसका अरंग-रसादि से भिन्न स्वरूप रखने पर ही सम्भव है । साथ ही किसी गुण

को हम "रंग" तभी कह सकते हैं जबकि हम यह जानते हों कि उसका ऐसा स्वरूप है जो रंग मात्र से सादृश्य रखता है । सदैव भेदाभेदात्मक, सामान्य-विशेषात्मक अर्थ, दूसरे शब्दों में अनेकान्तात्मक अर्थ ही ज्ञान का विषय होता है। अनेकान्त का अर्थ है-एक-अनेक, भेद-अभेद, सामान्य-विशेष, आदि विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म युगलों का एक ही वस्तु में युगपत् सद्भाव। अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि सामान्य बोध ही परमार्थतः सत्य है । बौद्ध कहते हैं कि स्वलक्षण का ज्ञान ही वास्तविक है । इन दोनों मतों का निराकरण करते हुए अकलंक कहते हैं, " कभी किसी को मात्र सामान्य अथवा मात्र स्वलक्षण का ज्ञान नहीं होता अपितु जात्यन्तर रूप वस्तु ही ज्ञात होती है ।"[1] जात्यन्तर शब्द का अर्थ है - सर्वथा सामान्य तथा सर्वथा विशेष से विजातीय परस्पर सापेक्ष सामान्य विशेष उभय रूप । प्रत्यक्ष, अनुमान आदि सभी प्रमाण सर्वथा सामान्य, सर्वथा विशेष से विजातीय ; सर्वथा भेद, सर्वथा अभेद से विजातीय; सर्वथा सत्, सर्वथा असत से विजातीय जात्यन्तर रूप-अनेकान्तात्मक अर्थ का बोध कराते हैं । धर्म यदि धर्मी से सर्वथा भिन्न हो तो धर्म ज्ञान पूर्वक धर्मी ज्ञात नहीं हो सकता तथा यदि सर्वथा अभिन्न हो तो धर्म धर्मी भाव नहीं बन सकता ।

प्रमाण से जानी हुई वस्तु के एक देश को ग्रहण करने वाले ज्ञाता के अभिप्राय विशेष को नय कहते हैं ।[2] इसमें धर्म युगल के दोनों ही धर्म ज्ञात तो होते हैं पर उनमें से एक धर्म का मुख्य रूप से ग्रहण किया जाता है तथा अन्य को गौण कर दिया जाता है ।[3] ज्ञाता द्वारा जिस नय में एक धर्म का विधान करते समय अन्य का निषेध किया जाता है वह दुर्नय कहलाता है ।

----

1. सिद्धि विनिश्चय 1/12
2. न्याय दीपिका, पृष्ठ-225
3. स्वयभू स्त्रोत 11/2

बौद्ध मत - निरंश क्षणिक धर्म ही ज्ञान के विषय :-

बौद्ध दर्शन के अनुसार परमार्थतः निरंश क्षणिक पदार्थ ही ज्ञान के विषय होते हैं। इन्द्रिय से सरल धर्म 'नील' का ही बोध होता है किसी धर्मी या द्रव्य का नहीं। इस बोध में "यह नील है" इस प्रकार का निश्चय नहीं होता क्योंकि इसका आधार इसका सभी नील से समान रूप मानना है जो एक स्वलक्षण का रूप नहीं हो सकता। इस प्रकार के पूर्णतया क्षणिक निरंश पदार्थ का इन्द्रियों से ग्रहण होने के उपरान्त बुद्धि की कोटियों - नाम, जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया द्वारा संयोजित होने पर निश्चयात्मक ज्ञान होता है। वस्तुतः इनमें से किसी का भी बाह्य जगत में अस्तित्व नहीं है। इसलिये इन पर आधारित सविकल्पक ज्ञान अनादि वासना जनित होने के कारण कल्पना मात्र है।

प्रज्ञाकर गुप्त कहते हैं कि सविकल्पक ज्ञान में जिस स्थिर स्थूल वस्तु का आभास होता है वह भ्रामक है। यह ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान द्वारा जाने गये अनेक निरंश क्षणिक परमाणुओं पर निकटता तथा सादृश्य के कारण अनादि वासना द्वारा एकता का संवरण-आरोपण किये जाने से उत्पन्न होता है। जिस प्रकार विरल केशों को दूर से देखने पर उनमें घनाकारता की भ्रामक प्रतीति होती है उसी प्रकार परमाणुओं के अति निकट होने के कारण घटादि के एक होने की भ्रामकप्रतीति होती है जबकि वह एक न होकर परमाणुओं का समूह मात्र है।[1]

इसी प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान एक ही सन्तान के विभिन्न क्षणों ~~की~~ को पृथक-पृथक जानता है लेकिन सविकल्पक ज्ञान उनमें स्थित सादृश्य के कारण उसे

---

1. प्रमाण वार्तिकालंकार, पृष्ठ-336
2. प्रमाण वार्तिकालंकार, पृष्ठ-287

एक स्थिर वस्तु मान लेता है । वास्तव में एक वस्तु अनेक देशों और अनेक कालों में व्याप्त नहीं हो सकती । कोई भी वस्तु जिस स्वभाव से यहाँ और इस समय है उसी स्वभाव से अन्य देश काल में किस प्रकार हो सकती है । यदि वह अन्य स्वभाव से अन्य देश काल में स्थित हो तो वह भिन्न ही वस्तु होगी क्योंकि स्वभाव भेद से ही अर्थ भेद होता है ।[1]

इस प्रकार रूप, रसादि में व्याप्त एक द्रव्य के लिये भी कोई प्रमाण नहीं है । रूप, रस की एकता रूप द्रव्य प्रत्यक्ष से तभी सिद्ध हो सकता है जबकि कम से कम एक प्रत्यक्ष ऐसा हो जो रूप और रस को एक साथ ग्रहण करे। विभिन्न इन्द्रियों से होने वाला प्रत्यक्ष एक समय में एक ही गुण को ग्रहण करता है । इन्द्रियों के विषय नियत हैं तथा कोई भी इन्द्रिय एक साथ रूप और रस का ग्रहण नहीं कर सकती । चक्षु के रूप का ग्रहण होता है, रस का ग्रहण नहीं होता और जिह्वा रस का ही ग्रहण कर सकती है, रूप का नहीं । जब रूप और रस का एक साथ प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता तब प्रत्यक्ष से उनमें एकता किस प्रकार स्थापित की जा सकती है । यदि कहा जाय कि द्रव्य की सत्ता अनुमान से सिद्ध होती है तो यह भी उचित नहीं है । क्योंकि जो अनुमान का हेतु होगा उसका साध्य-रूप और रस की एकता के साथ अन्वयी और व्यतिरेगी दृष्टान्तों का पूर्व में प्रत्यक्ष हुआ होना चाहिये तभी दोनों के मध्य व्याप्ति सम्बंध की स्थापना की जा सकती है । अतः जो बात प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होती वह अनुमान से भी सिद्ध नहीं हो सकती ।

वास्तव में एकता-अनेकता, सादृश्य-वैसादृश्य आदि परस्पर विरोधी धर्म हैं । जब सविकल्पक ज्ञान किसी वस्तु को पट रूप में जानता है तो वह अनेक परमाणुओं को एक मानता है तथा पट की अन्य घटादि वस्तुओं से व्यावृत्त रूप

----

1. प्रमाण वार्तिकालंकार, पृष्ठ-287

से जानता है ।[1] इस प्रकार वह अपने में विधि और निषेध दोनों ही लिये हुए होता है । इसलिये यह ज्ञान विरूद्ध कोटिक होने के कारण यथार्थ किस प्रकार हो सकता है । निर्विकल्पक ज्ञान में केवल मात्र भावात्मक वस्तु का ही ग्रहण होता है[2] इसलिये वही ज्ञान वास्तविक है तथा सविकल्पक ज्ञान वास्तविक नहीं कहा जा सकता ।

द्रव्य-पर्यायात्मक अर्थ ज्ञान का विषय

जैन दार्शनिक कहते हैं कि एक-अनेक, भेद-अभेद आदि में उस प्रकार का विरोध नहीं है जिस प्रकार का विरोध चेतन-अचेतन में है । एक अनेकादि में मात्र परस्पर परिहार लक्षण विरोध है अर्थात् जो लक्षण एक का है वही अनेक का नहीं हो सकता, जबकि चेतन और अचेतन में सहानवस्थान विरोध है । एक ही वस्तु युगपत चेतन अचेतन नहीं हो सकती ।

एक ही वस्तु को एक-अनेक कहने में विरोध दोष तब उत्पन्न होता है जबकि उनके पहले कथंचित् शब्द नहीं हो- हम उसे एक निश्चित अपेक्षा से एक तथा अन्य निश्चित अपेक्षा से अनेक न कहकर सर्वथा एक और अनेक कहें । जिस प्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से एक ही व्यक्ति में पिता होना तथा पिता नहीं होना धर्म बिना किसी विरोध के विद्यमान होते हैं उसी प्रकार विभिन्न अपेक्षाओं से एक ही वस्तु के एक अनेक होने में कोई विरोध नहीं है ।[3]

हमें सदैव अनेकान्तात्मक -युगपत् अनेक अवयवगुणात्मक तथा अनेक क्रमिक पर्यायात्मक एक वस्तु ज्ञात होती है । यदि एक-अनेक, भेद-अभेद आदि को विरोधीही माना जाय तथा एक वस्तु में ज्ञात हो रही अनेकता को भ्रामक कहा

---

1. Buddhist Logic - Vol. - 1, Page - 401
2. Buddhist Logic - Vo. - 1, Page - 398
3. तत्वार्थ वार्तिक, भाग-1, पृष्ठ-36

जाय तो यह तभी सम्भव है जब कि किसी बाधक प्रमाण की उपलब्धि हो । निर्विकल्पक प्रत्यक्ष वस्तु की एकानेकात्मकता के बोध को भ्रामक सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि वह स्वयं निरंश, क्षणिक होता है । वस्तु की निरंशता और क्षणिकता को वही ज्ञान जान सकता है जो देशान्तर और कालान्तर में स्थित वस्तु से उसका भेद देख सके । यह भिन्न-भिन्न देशों और कालों में स्थित वस्तुओं के ~~क्रम~~ एक ही ज्ञान का विषय बनने पर सम्भव है जो कि निरंश, क्षणिक ज्ञान की सामर्थ्य से बाहर है । इस प्रकार निरंश, क्षणिक वस्तु को भी एकानेकात्मक ज्ञान ही जान सकता है ।

बौद्ध स्थूल वस्तु के खण्डन के लिये प्रस्तुत किये गये अनुमान में विरल केशों में भ्रामक घनाकारता का दृष्टांत देते हैं । घनाकारता का ज्ञान तभी भ्रामक सिद्ध हो सकता है जबकि विरलता का ज्ञान यथार्थ हो तथा विरलता तभी यथार्थ हो सकती है जबकि उसका अधिष्ठान केश यथार्थ हों जो स्वयं स्थूल रूप हैं । यदि केश ज्ञान यथार्थ है तो स्थूल वस्तु का खण्डन नहीं किया जा सकता । यदि वह मिथ्या है तो उसके द्वारा कुछ भी सिद्ध नहीं किया जा सकता ।[1] इस प्रकार स्थूल वस्तु की यथार्थता का खण्डन प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही प्रमाणों से नहीं किया जा सकता ।

वास्तव में परमाणुओं के समूह मात्र पर एकता आरोपित नहीं की जाती अपितु एक स्थूल वस्तु परस्पर सम्बंधित अनेक परमाणुओं का निर्माण होती है । परमाणुओं के समूह मात्र से जल आहरण आदि कार्य सम्पन्न नहीं हो सकते । अवयवों के संयोग सम्बंध से निर्मित एक वस्तु के एक और अनेक धर्म विरोधी न होकर परस्पर सापेक्ष हैं । एक अवयवी अपने समस्त अवयवों में व्याप्त होता है

----

1. न्याय विनिश्चय विवरण, भाग-1, पृष्ठ-165-166

तथा अपने अवयवों के अतिरिक्त कुछ नहीं है । अवयवों का भी उस अवयवी का अंश होने पर जो स्वरूप होता है वह उससे स्वतंत्र होने पर नहीं होता । एक स्थूल वस्तु के अवयव अन्य अवयवों से सम्बंधित होकर तथा उनके प्रभाव पूर्वक अपने कार्यों को सम्पादित करते हैं ।उदाहरण के लिये हाथ, पैर आदि अंगों का जो स्वभाव शरीर के अंश के रूप में है वह उससे स्वतंत्र होने पर नहीं होता । पैर से चलने रूप क्रिया शरीर के अवयव के रूप में ही सम्पादित हो सकती है, अन्यथा नहीं । दूसरे शब्दों में शरीर ही अपने एक भाग से चलने की क्रिया करता है, दूसरे से उठाने की, तीसरे से देखने की ।

जब हम एक या एकाधिक अवयवों का प्रत्यक्ष करते हैं तो उस समय उसके ऐसे विशिष्ट स्वरूप का बोध होता है जो वह अवयवी के अंश के रूप में ही रख सकता है, अन्यथा नहीं । इसलिये अवयव ज्ञान से हमें अवयवी ही आंशिक रूप से ज्ञात होता है । इसलिये पैर आदि किसी अंश का बोध होने पर हमें "यह शरीर है" इस प्रकार का ज्ञान होता है । हमें कोई भाग ऐसी स्थिति में उपलब्ध हो सकता है जो शरीर से अलग हो गया हो तथा शरीर की उपस्थिति का भ्रम पैदा कर रहा हो पर इसका कारण है उन सामान्य धर्मों की उपलब्धि जो दोनों अवस्थाओं में समान रूप से पाये जाते हैं तथा उन विशेषधर्मों की अनुपलब्धि जो पैर में शरीर से पृथक होने पर उत्पन्न हो गये हैं ।

एक वस्तु अपने अनेक सहभावी गुणों और क्रमभावी पर्यायों में व्याप्त होती है । वस्तु के गुण तथा पर्याय उसके विविध स्वभाव हैं, विविध अंश हैं तथा उनका ज्ञान उस वस्तु का ही आंशिक ज्ञान है । कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि ज्ञान ही आत्मा है तथा आत्मा ही ज्ञान है क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती । आत्मा ज्ञान गुण से ज्ञान रूप है तथा अन्य गुणों से अन्य रूप भी है ।[1] इसलिये जब ज्ञान का ग्रहण होता है तो आत्मा का ही ग्रहण होता है । ज्ञान रूप से आत्मा ही ज्ञात होती है । यह बात एक द्रव्य के समस्त गुणों और पर्यायों के साथ है । अवयवों और गुणों का वस्तु से कथंचित् तादात्म्य सम्बंध होने के कारण उनके द्वारा वह द्रव्य ही आंशिक रूप से ज्ञात होता है इसलिये द्रव्य, गुण आदि मानसिक कल्पना मात्र न होकर

1. प्रवचन सार गाथा 37

वास्तविक हैं ।

बौद्धों की आपत्ति हमारे सामने यह समस्या प्रस्तुत करती है कि जब हम एक विशेष गंध का अनुभव करते हैं तो आम को प्रत्यक्ष गम्य क्यों कहते हैं । आम उस गुण तक ही सीमित नहीं है अपितु उसमें गंधातिरिक्त गुण भी हैं, अन्यथा उसे गंध ही कहा जाता, आम संज्ञा नहीं दी जाती । एक गुण को जानने से वे सब गुण ज्ञात नहीं हो जाते जिनका योग आम है । यही समस्या अवयव ज्ञान पूर्वक अवयवी को ज्ञात कहने में भी है । तब क्या गंध का ज्ञान होने पर गंध मात्र को ज्ञात न कह कर आम को ज्ञात कहना पूर्वानुभव के सँस्कारों, दूसरे शब्दों में वासना का कार्य नहीं है । यदि है तो ज्ञान वस्तुनिष्ठ न होकर व्यक्ति निष्ठ ही हुआ ।

इसके उत्तर में जैन दार्शनिक कहते हैं कि किसी वस्तु के ज्ञात होने का अर्थ यह नहीं है कि वह सम्पूर्णतया ज्ञात हो गयी है अपितु वह अपने जिस अंश से ज्ञात होती है उसी अँश से ज्ञात कही जाती है । ज्ञात अंश से वस्तु के अज्ञात अंश भी ज्ञात नहीं हो जाते अपितु ज्ञात और अज्ञात पक्षों के विवेक पूर्वक वस्तु ज्ञात होती है ।[1] वस्तु के कुछ धर्मों का ज्ञान उस का एक देश ज्ञान तथा समस्त गुणों और पर्यायों का ज्ञान उसका सम्पूर्ण ज्ञान हैं ।

धर्मकीर्ति कहते हैं कि दृष्ट वस्तु के समस्त गुण दृष्ट होते है [2] लेकिन वे स्वयं भी यह मानते है कि परमाणु का नील धर्म ही प्रत्यक्ष गम्य होता है क्षणिक धर्म नहीं। इसलिये वे आगे कहते हैं कि उसके सम्बंध में भ्रान्ति को दूर करने के लिये अनुमान की प्रवृत्ति होती है ।[3] यह इस बात का सूचक है कि एक ही वस्तु क एक साथ अनेक स्वभावों को लिये हुए होती है तथा किसी स्वभाव से ज्ञात तथा

----

1. न्याय विनिश्चय विवरण, भाग-1, पृष्ठ-116
2. प्रमाण वार्तिक 3/45 पूर्वार्द्ध
3. प्रमाण वार्तिक 3/45 उत्तरार्द्ध

अन्य से अज्ञात हो सकती है । यदि एक ही ज्ञान में वस्तु सम्पूर्णतया ज्ञात हो जाती है तो प्रमाणान्तर की आवश्यकता क्यों पड़ती है ?

वास्तव में एक वस्तु एक रूप न होकर अनेक स्वभाव वाली होती है तथा जब जिस स्वभाव का ग्रहण होता है तब उसके विरोधी स्वभाव वाले पदार्थ से व्यावृत्त रूप से ग्रहण होता है तथा अन्य स्वभावों के सम्बन्ध में उस समय कोई निर्णय नहीं होता । बौद्ध भी शब्द के कृतक स्वभाव को हेतु बना कर अनित्य स्वभाव को सिद्ध करते हैं । यह अनुमान इसलिये सम्भव तथा आवश्यक है कि कृतकत्व तथा अनित्यत्व दो भिन्न-भिन्न धर्म हैं तथा कृतकत्व का ज्ञान वस्तु को अकृतक से ही व्यावृत्त करता है, नित्य से नहीं ।[1]

जब हम कुछ धर्मों के ज्ञात होने पर एक धर्मी को जानते हैं तो निश्चित रूप से उसमें पूर्वानुभव के संस्कार काम करते है लेकिन इससे ज्ञान अनादि वासना जनित नहीं हो जाता । किसी भी वस्तु का ज्ञान अनादि वासना जनित न होकर हमारे ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम, दूसरे शब्दों में हमारी उस वस्तु को जानने की क्षमता को निरंतर विकसित करते हैं तथा कोई भी नया ज्ञान पुराने अनुभवों द्वारा विकसित की गयी शक्ति के कारण ही सम्भव होता है । हम किसी वस्तु को प्रथम अनुभव से ही नहीं पहचान जाते अपितु उसके पुनः पुनः हमारे समक्ष आने पर उसका विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट होता है, उसके अवच्छेदक धर्म ज्ञात होते हैं । विभिन्न अनुभव हमारे समक्ष एक वस्तु के विभिन्न पक्षों को उद्घाटित करते हैं । जिनको एकता का बोध " यह वही है" इस प्रत्यभिज्ञान द्वारा होता है । वस्तु के पुनः-पुनः विषय बनने के कारण हममें उस वस्तु के धर्मों का अन्य वस्तुओं के धर्मों से जो वैशिष्ट्य है उसे ग्रहण करने की क्षमता विकसित हो जाती है, जिसके कारण उसके ज्ञात हो रहे अंश के द्वारा हम उसे पहचान पाते हैं ।

----

1. प्रमाण वार्तिक, मनोरथ नन्दि वृत्ति, पृष्ठ-272

किसी वस्तु विशेष को पहचान सकने की क्षमता विकसित हो जाने के बाद ही हम उसके सम्बंध में अन्य बातें जान सकते हैं, अन्यथा नहीं। विभिन्न अनुभवों द्वारा विकसित की गयी क्षमता ही वस्तु के नये पक्ष ज्ञात हो सकने की सम्भावना पैदा करती है। उदाहरण के लिये शरीर पर किस खाद्य पदार्थ के उपभोग से क्या प्रभाव पडेगा। उसका कौन सा अंश किस प्रकार कार्य कर रहा है। उसकी विभिन्न ग्रन्थियों से किस प्रकार के रस स्त्रावित होते हैं जिनका शरीर के अन्य भागों पर क्या प्रभाव पडताहै ? यदि वे अन्य प्रकार के कार्य करने लग जाय तो उसका क्या प्रभाव होगा आदि शरीर के अनन्त पक्ष हैं। इनको एक शरीर विज्ञानी जितना जान सकता है उतना हम नहीं जान सकते क्योंकि हम शरीर के समस्त अंशों को नहीं जानते, उनकी कार्य प्रणाली को नहीं जानते, उनके पारस्परिक प्रभाव को नहीं जानते।

किसी भी विषय के सम्बंध में हमारा ज्ञान एक क्षणिक घटना मात्र न होकर अनुभवों के प्रवाह की एक कड़ी है जो पूर्वानुभवों द्वारा तैयार किये गये आधार पर उत्पन्न होती है तथा नये अनुभवों के लिये उस आधार को मजबूत बना देती है। ज्ञान का विषय लौकिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि किसी भी प्रकार का हो, उसके स्वरूपकी विशिष्टता को कितना अधिक जाना जा सकता है यह हमारी जानने की क्षमता पर निर्भर करता है जो यदि अनादि वासना का परिणाम हो तो निरंतर हो रहे अनुभवों द्वारा विकसित नहीं होनी चाहिये।

सामान्य-विशेषात्मक अर्थ ज्ञान का विषय

जहाँ भी कहीं निश्चय होता है वहाँ विकल्प होते हैं, विकल्प सामान्य के होने पर ही हो सकते हैं तथा सामान्य विशेष का अविनाभावी होता है।

प्रत्येक वस्तु स्वलक्षण होती है । उसका स्वय का असाधारण स्वरूप ही उसका लक्षण होता है । हम उसके स्वरूप की असाधारणता को जानकर ही यह जान सकते हैं कि वह क्या है । वह क्या है, इसके बोध में यह निहित होता है कि इस प्रकार की प्रत्येक वस्तु का ज्ञान इसी प्रकार का होगा तथा उसकी असाधारणता को जानने का अर्थ है कि हम उसे इस प्रकार के स्वभाव से रहित पदार्थों से पृथक करते हैं।

किसी भी पदार्थ को तभी जानाजा सकता है जबकि हमें यह ज्ञात हो कि वह किस वर्ग की वस्तुओं से सादृश्य रखता है तथा इस ज्ञान में ही उसका अन्य वर्गों के पदार्थों से विलक्षणता का बोध भी हो जाता है । यदि हमें इस विलक्षणता का बोध नहीं हो तो हम वास्तव में वस्तु को नहीं पहचानते । उदाहरण के लिये जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु को घट कहता है तो उसका आधार वह उसकी कुछ ऐसी विशेषताओं को मानता है जो जिस जिसमें पायी जाती हैं उसे घट ही कहा जाता है तथा जो घट के अतिरिक्त किसी में नहीं पायी जातीं । किसी भी वस्तु को घट, पट आदि रूप में हम तभी जान सकते हैं जबकि हमें उनमें स्थित, घटत्व, पटत्व आदि सामान्यों का ज्ञान हो । ये घटत्व, पटत्व आदि और कुछ नहीं अपितु वस्तु के ऐसे असाधारण धर्म है जो सभी घटों में समान रूप से पाये जाते है तथा किसी भी अघट में नहीं पाये जाते । वस्तु अपने सामान्य-विशेषात्मक स्वरूप के कारण ही ज्ञान का विषय होती है । उसका सामान्य स्वरूप उसका सभी घटों से सादृश्य तथा विशेष स्वरूप सभी अघटों से वैसादृश्य है । चाहे हम तत्वमीमांसीय दृष्टि से सादृश्य अथवा वैसादृश्य की सत्ता का निषेध करें लेकिन ज्ञान सदैव दोनों की सम्भावना की स्वीकृति पूर्वक ही होता है । यदि तत्वमीमांसायीय दृष्टि से पूर्णतया विलक्षण पदार्थों को ही

सत् कहा जाय तो उन्हें भी उनके लक्षण के आधार पर ही जाना जायेगा तथा जब ऐसे विलक्षण पदार्थों को जाना जायेगा तो उसमें भी यह निहित होगा कि इस प्रकार के प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान इसी प्रकार का होगा । इसी प्रकार हम वैसादृश्य की सत्ता का निषेध कर सकते हैं लेकिन ज्ञान विषय को विसदृश वस्तुओं से व्यावृत्त करते हुए ही उत्पन्न होता है । जब हम किसी लक्षण के आधार पर किसी वस्तु को जानते हैं तब साथ ही साथ हम यह भी जानते हैं कि यह इसकी विजातीय वस्तुओं से भिन्न है । वस्तु का एक विशेष प्रकार से निश्चय विरोधी स्वभाव वाली वस्तुओं से उसका भेद लिये हुए होता है । उदाहरण के लिये अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं जिससे उसे अलग किया जा सके । लेकिन जब भी उसके स्वरूप को जानने के लिये प्रवृत्ति होगी अस्वरूप की व्यावृत्ति स्वतः हो जायेगी । जब उसे चेतन कहा जायेगा तो इसका अर्थ है कि वह अचेतन नहीं है । दूसरे शब्दों में जो अचेतन हो उसे ब्रह्म नहीं कहा जा सकता । इसलिये वादिराज कहते हैं कि वस्तु के प्रति विधेयात्मक बुद्धि उसके सदृशाकार के कारण होती है । वस्तु का सामान्य स्वरूप ही उसका बोध कराता है जिसमें अस्वरूप की व्यावृत्ति निहित होने के कारण वह विशेष रूप भी होती है ।[1]

कुमारिल कहते हैं कि सदृश परिणाम वस्तुओं को पहचानने का आधार नहीं है अपितु वस्तुओं में स्थित एक, नित्य सामान्य वस्तुओं के प्रति विधेयात्मक बुद्धि उत्पन्न करता है। जिन जिन वस्तुओं में यह सामान्य पाया जाता है उन्हीं में अनुगत शब्द का प्रयोग तथा अनुगत प्रतीति होती है । यदि ऐसा नहीं माना जाय तो प्रश्न उठता है कि बाहुनेय को गाय क्यों कहा जाता है ? यदि कहा जाय कि

---

1. न्याय विनिश्चय विवरण, भाग-1, पृष्ठ-119

कि शावलेय से सादृश्य के कारण तो उसे शावलेय ही कहा जाय, गाय किस प्रकार कहा जा सकता है, क्योंकि शावलेय मात्र गाय नहीं है । सदैव शावलेय, बाहुलेय आदि विशिष्ट गायों की ही उपलब्धि होती है तथा कोई ऐसी आदर्श गाय नहीं है जिससे सादृश्य के आधार पर सभी को गाय कहा जा सके ।[1]

इसके उत्तर में वादिराज कहते हैं कि जो व्यक्ति गाय को नहीं जानता, उसे शावलेयादि की ओर संकेत करके ही गाय का परिचय कराया जाता है, वह विशेष गायों को देखकर ही गाय को पहचानना सीखता है । कभी भी उन गायों से स्वतंत्र गौत्व जाति की उपलब्धि नहीं होती , फिर वह किसी अन्य गाय को देखकर गाय के रूप में क्यों जानता है जबकि अश्वादि को गाय के रूप में क्यों नहीं पहचानता । यदि कहा जाय कि अश्वादि में गौत्व जाति नहीं है, वह शावलेय, बाहुलेयादि में ही है, तब भी यह प्रश्न शेष रहता है कि हमें यह किस प्रकार ज्ञात होता है, क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों से स्वतंत्र जाति की उपलब्धि हमें कभी नहीं होती ।

शावलेय, बाहुलेयादि सभी गायों में कुछ ऐसी विशेषताएं समान रूप से पायी जाती हैं जिनके कारण उन सभी को गाय कहा जाता है तथा जिनका अश्वादि में अभाव होता है । विभिन्न गायों में समानताओं के मध्य कुछ ऐसी विशेषताएं भी होती हैं जो अवान्तर वर्ग विभाजन का आधार होती हैं । यदि वस्तुओं के मध्य गुण गत तथा संस्थान गत सादृश्य के अतिरिक्त एक जाति को निश्चय का आधार माना जाय तब भी यह प्रश्न शेषरहता है कि शावलेय को देखने पर शावलेयत्व के कारण शावलेय का ज्ञान होगा , बाहुलेयादि का नहीं तथा बाहुलेय बाहुलेयत्व के द्वारा पहचानी जायेगी । ऐसी स्थिति में गाय को किस प्रकार पहचाना जा सकता है क्योंकि विशेष गायों की ही उपलब्धि होती है, उनसे स्वतंत्र गाय मात्र की नहीं ।[2]

---

1. श्लोक वार्तिक-आकृति वाद, श्लोक-67-73
2. न्याय विनिश्चय विवरण, भाग-1 पृष्ठ-455-457

प्रत्येक वस्तु अनेक गुणों और विशेष संस्थान को लिये हुए होती है। उनमें स्थित सादृश्य के आधार पर हम उन्हें एक वर्ग में रखते हैं तथा उस सादृश्य में प्राप्त हो रही विशेषताओं के आधार पर हम उनके अवान्तर वर्ग बना देते हैं। उदाहरण के लिये सत् होना सब वस्तुओं का स्वभाव है। जब हम सब पदार्थों को "सत्" कहते हैं तो हमें उन सब में समान रूप से पाये जाने वाले एक धर्म का बोध होता है। इसके "एक" होने का तात्पर्य यह नहीं है कि यह एक धर्म सभी वस्तुओं में व्याप्त हो। वह एकाकार प्रतीति तथा एकाकार शब्द की दृष्टि सेही एक है। तत्वमीमांसीय दृष्टि से यह वस्तु का स्वभाव होने के कारण असर्वगत है तथा प्रत्येक वस्तु में परिसमाप्त हो जाता है।[1] जब हम वस्तुओं को चेतन अचेतन कहते हैं तो समानता में स्थित विशेषता के आधार पर कहते हैं। इसी प्रकार अश्व, गौ आदि में चार पैर होना आदि विशेषताएँ समान रूप से पायी जाती हैं इसलिये वे सभी पशु कहलाते हैं। इस समानता में पायी जाने वाली विशेषता के आधार पर हम उनमें अवान्तर वर्ग बनाते हैं। उदाहरण के लिये गलकम्बलमद् पशु को ही गाय कहा जाता है। यही गौत्व है जो सभी गायों में समान रूप से पाया जाता है। इसके साथ ही विभिन्न गायों में वैशिष्ट्य भी होता है जिसके आधार पर हम उन्हें पृथक करने के लिये शावलेय, बाहुलेयादि पृथक नाम देते हैं।

इस प्रकार अश्व, गौ आदि में भी सादृश्य है तथा इस सादृश्य का बोध होने पर हम उन्हें पशु के रूप में जानते हैं, अश्व, गौ आदि विशिष्ट पशु के रूप में नहीं। विशिष्ट पशु का बोध तो अन्य पशुओं से उसका वैसादृश्य तथा उस प्रकार के पशुओं से सादृश्य के ज्ञात होने पर ही होता है। इसलिये शावलेय, बाहुलेय आदि सभी में गौत्व बुद्धि उनमें स्थित सादृश्य के कारण उत्पन्न होती है तथा हम शावलेय, बाहुलेयादि विशिष्ट रूप से उस समानता में स्थित वैशिष्ट्य के आधार पर जानते है।

----

1. प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृष्ठ-474-475

किसी भी व्यक्ति को पहचानने के लिये उस व्यक्ति से स्वतंत्र एक नित्य जाति की उसमें स्थिति मानने की कोई उपयोगिता नहीं है । जब तक हमें वस्तु के विशेष गुणों का ज्ञान नहीं हो हम उसे पहचान नहीं सकते । भासुर रूप और उष्ण स्पर्श का ज्ञान होने पर ही किसी वस्तु को "अग्नि" रूप में जाना जा सकता है । पृथुबुध्नाकार का बोध होने पर ही घट ज्ञात होता है इसलिये अकलंक देव कहते है, समान भावः सामान्यं विशेषोऽन्यव्यपेक्षया ।[1] समान रूप से भाव अर्थात् आत्मलाभ करना, दूसरे शब्दों में स्वभावगत समानता या सदृश परिणाम ही सामान्य हैं जो विसदृश वस्तुओं से व्यावृत्त प्रत्यय उत्पन्न करने के कारण विशेष भी है । वस्तु के सामान्य और विशेष धर्म व्यक्तिनिष्ठ अपेक्षा से न होकर वस्तुनिष्ठ अपेक्षा से हैं ।

वस्तु के सामान्य और विशेष धर्म स्वरूप की दृष्टि से परस्पर निरपेक्ष होते हुए भी अस्तित्व की दृष्टि से परस्पर सापेक्ष है तथा एक की सत्ता का निषेध करने पर दूसरे की सत्ता का विधान करना असम्भव है । सामान्य वस्तु का स्वभाव होता है जिसका निषेध करने पर वस्तु निस्वभाव हो जाती है । निस्वभाव वस्तु की सत्ता ही नहीं होती तब उसका किसी से भेद किस प्रकार देखा जा सकता है । वस्तु का विशेष धर्म वस्तु का निश्चित प्रतिनियत स्वरूप स्थापित करता है ।

ज्ञान न तो मात्र सामान्य का होता है न मात्र विशेष का अपितु सामान्य-विशेषात्मक अर्थ का होता है । किसी भी वस्तु को कोई नाम उसकी कुछ विशेषताओं के आधार पर दिया जाता है तथा इस नामकरण का अर्थ ही यह होता है कि इन विशेषताओं वाली वस्तु को ही यह नाम दिया जायेगा। यदि हमें वस्तु को अन्यों से भिन्न नहीं करना हो तो हम कभी भी उसे विशेष नाम नहीं देते । इस प्रकार वस्तु का बोध सदैव अन्य व्यावृत्ति को लिये हुए होता है ।

----

1. न्याय विनिश्चय 1/1 ३ ।

धर्मकीर्ति कहते हैं कि विभिन्न वस्तुओं को एक ही वर्ग में रखने का आधार ऐसा कोई भी भावात्मक धर्म नहीं है जो उन सबमें समान रूप से प्राप्त हो अपितु वे सब इस बात में समान हैं कि विजातीय वस्तुओं से भिन्न हैं । उदाहरण के लिये विभिन्न गायों में कोई भी धर्म एकदम समान रूप से नहीं पाया जाता । उनके वर्ण, आकार आदि परस्पर विलक्षण होते हैं । लेकिन फिर भी उन सबको गाय कहा जाता है क्योंकि वे, जो गाय नहीं है, उनसे पूर्णतया विलक्षण हैं । नीले रंग के सभीउदाहरण परस्पर पूर्णतया सदृश न होकर परस्पर विलक्षणता को लिये हुए होते है, लेकिन फिर भी वे एक वर्ग में आते हैं क्योंकि वे जो नीले नहीं है, उनसे भिन्न हैं ।[1]

लेकिन हम जब तक यह नहीं जानते हों कि नीला रंग होने का अर्थ क्या होता है तब तक हम यह भी नहीं कह सकते कि यह अनील से भिन्न है । किसी रंग को "अनील" भी तभी कहा जा सकता है जबकि वह अअनील अर्थात् नील से भिन्न हो । यह नील बोध होने पर ही जाना जा सकता है । जब तक स्वरूप बोध नहीं हो पर रूप निषेध सम्भव नहीं है । इस कारण आगे जाकर बौद्ध कहते है कि सामान्य विधि-निषेधात्मक स्वरूप लिये हुए होता है ।[2] लेकिन साथ ही वे यह भी कहते है कि सामान्य का विधेयात्मक स्वरूप वास्तविक न होकर आरोपित होता है ।[3] जब हम किसी भी वस्तु को गाय कहते हैं तो हम यह मानकर चलते हैं कि उसका ऐसा स्वरूप है जो सभी गायों में समान रूप से पाया जाता है । परमार्थतः सभी पदार्थ पूर्णतया विलक्षण हैं तथा प्रत्यक्ष में वे इसी प्रकार जाने जाते हैं । उनका निश्चय सादृश्य के आरोपण पूर्वक ही होता है । इसलिये सादृश्य पर आधारित सविकल्पक ज्ञान कल्पना मात्र हैं ।

---

1. प्रमाण वार्तिक 3/139-140
2. अपोह सिद्धि, पृष्ठ-8
3. अपोह सिद्धि पृष्ठ-15

जैन दार्शनिक कहते हैं कि यदि वस्तुएं परस्पर पूर्णतया विलक्षण हैं, उनमें किसी भी धर्म की दृष्टि से सादृश्य नहीं है तथा प्रत्यक्ष में उसका यही स्वरूप ज्ञात होता है तो एक वस्तु के प्रत्यक्ष से गौ का विकल्प ही क्यों उदित होता है, अश्व का विकल्प क्यों उदित नहीं होता तथा उसके अनुसार प्रवृत्त होने पर अर्थ-क्रिया समर्थ वस्तु की प्राप्ति क्यों होती है ।[1]

यह ठीक है कि एक वर्ग के अन्तर्गत आने वाले पदार्थ बहुत सारी विभिन्नताओं को लिये हुए होते हैं लेकिन उनमें कई विशेषताएं समान रूप से भी पायी जाती है तथा उन्हें एक विशेष रूप से जानने का आधार तथा एक विशेष नाम देने का आधार ऐसी विशेषताओं को पहचानना ही होता है । एक वर्ग की वस्तुओं में इन समानताओं के साथ ही साथ अन्य कई ऐसी विशेषताएं हो सकती हैं जो उसमें और वर्ग विभाजन का आधार होती है । हम प्रत्यक्ष द्वारा किसी वस्तु की अन्यों से विलक्षणता को कितना अधिक ग्रहण कर सकते हैं यह हमारी जानने की क्षमता पर निर्भर करता है । ऐसा नहीं है कि हमारे पास कुछ सीमित विकल्प हैं तथा हम इन्द्रिय प्रत्यक्ष के प्रथम क्षण में ज्ञात हुई पूर्णतया विलक्षण वस्तुओं पर उन्हें आरोपित कर उनका अध्यवसाय करते हैं । इन्द्रिय ज्ञान विशेष से सामान्य की ओर नहीं बढता अपितु सामान्य से विशेष की ओर बढता है ।[2]

---

1. सिद्धि विनिश्चय टीका, पृष्ठ-133
2. टिप्पणी - सामान्य और विशेष पदों का कई अर्थों में प्रयोग किया जाता है उनमें से इस अध्याय में निम्नलिखित दो अर्थों मे इन पदों का प्रयोग किया जा रहा है -

(1) सामान्य अनुगत या एकाकार प्रतीति तथा एक नाम का आधार होता है तथा जिसके द्वारा विभिन्न वस्तुओं में अंतर का बोध हो तथा उन्हें भिन्न-भिन्न नाम दिया जाय वह विशेष है इस अर्थ में सजातीय पदार्थों से सदृश परिणाम ही साजात्य तथा विजातीयवस्तुओं से विलक्षण परिणाम ही विशेष है ।

(2) व्यापक धर्म को सामान्य तथा व्याप्य धर्म को विशेष कहा जाता है\जैसे रंगपना एक व्यापक या सामान्य धर्म है तथा लाल, नीला, पीला आदि इसके विशेष प्रकारहै।प्रस्तुत संदर्भ में सामान्य और विशेष पदों का इस द्वितिय अर्थ में प्रयोग किया जा रहा है ।

इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के प्रथम क्षण में सत्ता मात्र का ज्ञान होता है । धीरे-धीरे आकार स्पष्ट होता है । उसके बाद "पुरूष" है" यहबोध होता है तथा फिर पुरूष विशेष ज्ञात होता है । इस प्रकार इन्द्रियाँ सामान्य रूप से - भेद रहित रूप से वस्तु को ग्रहण करती हुई उसके विशिष्ट रूप - भेद सहित रूप का ग्रहण करने की ओर प्रवृत्त होती हैं । हम उसको अन्यों से जितना अधिक पृथक कर सकते हैं उतने ही अधिक स्पष्ट रूप में जानते हैं । विषय का वैशिष्ट्य इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के प्रथम क्षण में स्पष्ट न होकर अवान्तर क्षणों में ही स्पष्ट होता है । हम उसे कितने अधिक विशिष्ट रूप में ग्रहण कर सकते हैं, यह हमारी जानने की क्षमता पर निर्भर करता है ।

हमारे पास नीले रंग के सभी प्रकारों के लिये "नीला" यह एक सम्प्रत्यय इसीलिये होता है कि हम प्रत्यक्ष में उसका अन्य रंगों से वैशिष्ट्य तो जान जाते है पर नीले रंग में भी उसकी विशिष्टता को ग्रहण नहीं कर पाते । यदि वह भी ज्ञात होती है तो हम उसे गहरा नीला, हल्का नीला आदि कहते हैं । यदि हम नीले रंग के विभिन्न प्रकारों में स्थित और अधिक सूक्ष्म अंतर को ग्रहण कर सकते हैं तो हमारे पास और अधिक सम्प्रत्यय हो सकते हैं । सम्प्रत्ययों की संख्या सीमित नहीं है हमारी जानने की क्षमता सीमित है तथा इसकी वृद्धि के साथ ही सम्प्रत्ययों की संख्या भी बढ जाती है । अनन्त धर्मों का ग्रहण अनन्त सम्प्रत्ययों द्वारा ही होता है । यदि प्रत्यक्ष वस्तु के पूर्णतया विलक्षण स्वरूप का ग्रहण करता है तो वह सम्प्रत्ययात्मक रूप से ही कर सकता है । उसका ज्ञान होता है तो उसमें यह आशय निहित होगा कि इस विशेषता वाली हर वस्तु का ज्ञान इसी प्रकार का होगा । सविकल्पक ज्ञान कल्पना मात्र न होकर वस्तुभूत होता है । प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप से पहचानी जाती है । यह तभी सम्भव है जबकि हममें उस प्रकार की प्रत्येक वस्तु को पहचानने की क्षमता हो, हम यह जानते हो कि इस प्रकार की प्रत्येक वस्तु का ज्ञान

इसी प्रकार का होता है तथा उसे यही नाम दिया जाता है । ज्ञान में सार्वभौमिकता होती है । किसी भी वस्तु के ज्ञात होने में समान वस्तुओं के समान ज्ञान के सिद्धांत काम करता है ।

हमें कभी पूर्णतया विलक्षण वस्तु का ज्ञान नहीं होता । कोई भी पदार्थ जब ज्ञात होता है तो अपने विजातीय पदार्थों से विलक्षण रूप से ही ज्ञात होता है । यदि वह विजातीय पदार्थों के समान ही सजातीय पदार्थों में भी विलक्षण हो तो उसका अपना कोई स्वरूप ही नहीं रहेगा । जब अर्थ क्षणिक, विलक्षण, विकल्पातीत आदि रूप से जाना जाता है तो यह उसके सामान्य विशेषात्मक स्वरूप के कारण ही सम्भव है । यदि वह विकल्पात्मक रूप से जाने गये पदार्थों से विलक्षण होने के साथ ही साथ " विकल्पातीत रूप से जाना जा सकना" इस विशेषता वाले पदार्थों से भी इस बात में सादृश्य नहीं रखता हो तो उसका अपना कोई स्वरूप किस प्रकार हो सकता है । किसी स्वरूपहीन पदार्थ की सत्ता ही नहीं होती । अत: उसके ज्ञात होने का प्रश्न ही नहीं उठता ।[1]

मण्डन मिश्र कहते हैं कि विशेष कभी भी वस्तु का स्वरूप नहीं हो सकता । वह अन्योन्याभाव रूप होता है तथा अभाव अवस्तु होने के कारण किसी भी प्रमाण का विषय नहीं हो सकता ।" सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" जैसे आम्नाय कथनों से भेद रहित एक मात्र अद्वैत ब्रह्म की सत्ता सिद्ध है । जिस प्रकार जल की तरंगों पर "यह चन्द्र है, "यह चन्द्र है" इस प्रकार भेद रहित अनुगत प्रतीति होती है इसलिये चन्द्र एक ही है उसी प्रकार एक ही ब्रह्म अनेक रूपों में दृष्टिगोचर हो रहा है अथवा जिस प्रकार तिमिर रोग से ग्रस्त व्यक्ति को निर्मल चिदाकार आकाश में अनेक आकार दृष्टिगोचर होते हैं उसी प्रकार अनादि अविद्या से ग्रस्त व्यक्ति को निराकार ब्रह्म में अनेक आकार दृष्टिगोचर होते हैं ।

1 न्याय विनिश्चय विवरण; भाग-1, पृष्ठ - 479

आम्नाय का बाधक प्रत्यक्ष प्रमाण भी नहीं हैं क्योंकि वह सदैव भावात्मक वस्तु को विषय करता है । भेद या व्यावृत्ति इतरेतराभाव रूप होती है । वह कभी भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्यक्ष सदैव सन्निकृष्ट अर्थ को ही जानता है । फिर यदि उसे प्रत्यक्ष का विषय माना भी जाय तो निषेध के लिये निषेध्य का ज्ञान होना आवश्यक है । एक वस्तु में अनन्त वस्तुओं का अभाव होता है । यदि निषेधपूर्वक ही विधान होता हो तो प्रत्यक्ष की शक्ति उन अनंत वस्तुओं का निषेध करने में ही समाप्त हो जायेगी । उसके बाद विधान किस प्रकार होगा ? फिर प्रत्यक्ष स्वरूप को जाने बगैर अन्य व्यावृत्ति में प्रवृत्त हो नहीं सकता तथा स्वरूप को जानने के बाद वह क्षणिक होने के कारण नष्ट हो जाता है । अतः विधि मात्र ही प्रत्यक्ष का विषय है, निषेध नहीं ।

अनुमान से भी अन्योन्याभाव को जानना सम्भव नहीं है, क्योंकि अभाव का अपना कोई स्वरूप नहीं है जिसके कारण उसका किसी भावात्मक पदार्थ के साथ अविनाभाव सम्बंध हो सके । इस प्रकार भेद किसी भी प्रमाण से ज्ञात नहीं होता । सदैव अभेद रूप सामान्यात्मक वस्तु ही ज्ञात होती है ।[1]

जैन दार्शनिक कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु अपना एक निश्चित प्रतिनियत स्वरूप लिये हुए होती है तथा उसके अतिरिक्त अन्य रूपों का उसमें अभाव होता है । कोई वस्तु चेतन होती है तो उसमें चेतन के विरोधी धर्म जडता का अभाव होता है । यदि ऐसी वस्तु की सत्ता भी स्वीकार की जाय जो सर्वात्मक हो- जितनी भी विशेषताएँ हो सकती हैं वे उसका स्वरूप हों तब भी उसका अभावात्मक पक्ष अवश्य होगा और वह होगा कि वह असर्वात्मक नहीं है, उसमें किसी भी धर्म का अभाव नहीं है ।[2] वस्तु का अभावात्मक पक्ष उसके निश्चित प्रतिनियत स्वरूप

----

1. ब्रह्म सिद्धि से न्याय विनिश्चय विवरण में उद्धृत, पृष्ठ-345-46
2. अष्टसहस्त्री, पृष्ठ-109

की व्यवस्था करता है । वस्तु अन्य पदार्थों से निरपेक्ष रूप से ही इस भावाभावात्मक स्वरूप को लिये हुए होती है ।

जिस प्रकार वस्तु अन्य पदार्थों से पृथक स्वरूप उन पदार्थों की अपेक्षा पूर्वक नहीं रखती उसी प्रकार वस्तु के अन्य रूपों से पृथक् विशिष्ट स्वरूप का ज्ञान उसके सामान्य-विशेषात्मक स्वरूप का ज्ञान अन्य पदार्थों के उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं रखता । प्रभाचन्द्र कहते हैं "भेद व्यवहार के लिये ही अन्यों का उल्लेख आवश्यक है । भेद स्वरूप को जानने के लिये नहीं ।[1] जब हम कहते हैं कि यह इससे भिन्न है तो इस प्रकार के व्यवहार के लिये जिससे भेद देखा जा रहा है उसका उल्लेख आवश्यक है लेकिन वस्तु का विशिष्ट स्वरूप न तो अन्यों की अपेक्षा रखता है न इसे जानने के लिये अन्यो का उल्लेख आवश्यक है । इसे जानने से, जो भी कुछ इससे विलक्षण है, उसका निषेध स्वत: हो जाता है । जिस प्रकार वस्तु के प्रति विधेयात्मक बुद्धि अन्यों की अपेक्षा किये बिना उत्पन्न होती है उसी प्रकार निषेधात्मक बुद्धि की उत्पत्ति में भी अन्यो की अपेक्षा नही होती ।

जितने भी प्रमाण हैं उन सभी में वस्तु विधि-निषेधात्मक रूप से ही ज्ञात होती है । चक्षु प्रत्यक्ष में नीली वस्तु नीली रूप से ही ज्ञात होती है तथा किसी रंग के नीला होने का तात्पर्य ही यह है कि वह अनील-पीत, हरित आदि सभी रंगों से विलक्षण एक ऐसे स्वरूप को रखता है जिसके होने पर ही उसे "नीला" कहा जाता है । यह नहीं कहा जा सकता कि इन्द्रियाँ केवल स्वरूप को जानती हैं तथा पर रूप निषेध परवर्ती सविकल्पक बुद्धि द्वारा होता है क्योंकि वस्तु भावाभावात्मक स्वरूप को लिये हुए होती है तथा उसके प्रति विधिनिषेधात्मक बुद्धि की उत्पत्ति युगपत् होती है ।

वादिराज मण्डन मिश्र के मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि प्रत्यक्ष का विधिनिषेधात्मक स्वरूप स्वीकार किये बिना आम्नाय का आम्नायत्व स्थापित

नहीं हो सकता । आम्नाय का ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय से होता है । विधि मात्र को प्रत्यक्ष का विषय स्वीकार करने पर अनाम्नाय के भी आम्नाय होने का प्रसंग आता है । जब तक आम्नाय ही सिद्ध नहीं हो ब्रह्म किस प्रकार सिद्ध हो सकता है" आम्नायत: प्रसिद्धिश्च कवयोंदस्य प्रचक्षते ।" ॥ ब्रह्म सिद्धि -1/2॥ । यदि कहा जाय कि आम्नाय प्रत्यक्ष से सिद्ध न होकर अन्य प्रमाण से सिद्ध होता है तो इस कथन से विरोध होता है, " प्रत्याक्षादिभ्य: सिद्धात् आम्नायात् तत्व दर्शनम्" ॥ब्रह्म सिद्धि॥, पृष्ठ-4॥॥[1]

आगम भी सत् के विशिष्ट स्वरूप को जानने के लिये अस्वरूप की व्यावृत्ति पूर्वक ही प्रवृत्त होता है ।" एक ही अद्वितिय ब्रह्म है । "यहाँ नानाकुछ नहीं है उस सत्व को तो ब्रह्म वेत्ता अक्षर कहते हैं, वह न मोटा है, न पतला है, न लाल है, न द्रव है, ------------ " यह अक्षर दृष्टि का विषय न होकर दृष्टा है; उससे भिन्न कोई दृष्टा नहीं है । इस प्रकार हम ब्रह्म को भी तभी जान सकते हैं जबकि उसे अब्रह्म से पृथक कर सके । यदि हम ब्रह्म और प्रपंच में अंतर नहीं कर सकते तो हम ब्रह्म को नहीं जानते । किसी भी वस्तु के अस्वरूप की व्यावृत्ति जितनी अधिक होती है उसका स्वरूप उतना ही अधिक स्पष्ट होता है तथा स्वरूप बोध जितना अधिक स्पष्ट होता है उतनी ही वस्तु अन्यों से व्यावृत्त हो जाती है । बौद्ध विभिन्न वस्तुओं में सादृश्य तथा अनेक धर्मों में एकत्व को स्वीकार नहीं करना चाहते तथा अद्वैत वेदान्तियों को एक वस्तु का अनेकत्व तथा वैसादृश्य स्वीकार्य नहीं है । वे कहते हैं कि सादृश्य-वैसादृश्य, एकत्व-अनेकत्व आदि धर्म परस्पर विरोधी हैं । ये एक वस्तु में एक साथ नहीं पाये जा सकते । सविकल्पक ज्ञान वस्तु को इन द्वंदात्मक

---

1. न्याय विनिश्चय विवरण भाग-। पृष्ठ-460
2. छान्दोग्य उपनिषद 6/2/1
3. वृहदारण्यक उपनिषद 4/4/19
4. वृहदारण्यक उपनिषद 3/8/8
5. वृहदारण्यक उपनिषद 3/8/11

कोटियों के माध्यम से ही जान सकता है इसलिये परमार्थतः वह मिथ्या है । निर्विकल्पक ज्ञान इस विरोध दोष से रहित है । इसलिये वही वस्तु को परमार्थतः जानता है । प्रश्न उठता है कि यह ज्ञान स्वयं भी तो विचार है और इसलिये यह भी वास्तव में मिथ्या ही है तब इसके आधार पर किसी अन्य ज्ञान को मिथ्या किस प्रकार कहा जा सकता है ? इस विचार का प्रमाण-शास्त्र भी सविकल्पक ज्ञान रूप ही है इसलिये मिथ्या ही है । तब उनके अध्ययन का क्या प्रयोजन है ? उनके द्वारा कुछ सिद्ध तो हो ही नहीं सकता । इसके उत्तर में कहा जाता है कि जिस प्रकार जहर से जहर नष्ट होता है, तलवार से तलवार कटती है, उसी प्रकार आगम का ज्ञान अविद्या होते हुए भी हमारी अनादि अविद्या को नष्ट करता है जिसके बाद वस्तुभूत निर्विकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति होती है जो सत् को उसके यथार्थ स्वरूप में जानता है । अकलंक देव कहते हैं कि ज्ञान का यह लक्षण सुप्त, मूर्छित आदि अवस्थाओं में भी जाता है क्योंकि ज्ञान का लक्षण निश्चय रहितता वहाँ भी वर्तमान है ।[1] वास्तव में ऊपर किया गया वर्णन इसी प्रकार का है जैसे कोई व्यक्ति एक वस्तु को अच्छी तरह जानले और फिर सो जाय । हम उसकी जानने वाली अवस्था को तो अज्ञान मय कहें तथा सुप्तावस्था में उसे वास्तव में ज्ञानी कहें । यदि निश्चत रहित रूप से ही वह ज्ञानी है तो इतने शास्त्राभ्यास की क्या आवश्यकता है ? जगत में बहुत सी वस्तुयें ऐसी है जिनके सम्बंध में निर्णय का हममें पूर्णतया अभाव है । निर्विकल्पक ज्ञान की परिभाषा हमें उन सभी वस्तुओं के प्रति पूर्ण ज्ञानी बना देती है ।

निर्विकल्पक ज्ञान के आधार पर किसी भी प्रकार के वाद विवाद में भाग लेने का अर्थ ही यह है कि हमें उसके द्वारा यह ज्ञात हो गया है कि यही स्वरूप है, अन्य नहीं । सत् नित्य ही है, क्षणिक नहीं, यह निश्चय होने पर ही क्षणिक वाद के खण्डन हेतु प्रवृत्त हुआ जा सकता है । धर्म धर्मी के तादात्म्य सम्बंध का

---

1. न्याय विनिश्चय 1/82 पूर्वार्द्ध

बोध होने पर ही उनके भेद का निषेध किया जा सकता है । यह इसी लिये सम्भव हो पाता है कि वस्तु विधिनिषेधात्मक रूप से ही ज्ञात होती है । यदि वस्तु को नित्य रूप से जानना अनित्यता का निषेध नहीं हो तो क्षणिकवाद के खण्डन का कोई अर्थ नहीं है । इस प्रकार 'यही ज्ञान सत्य है तथा इसके विपरीत ज्ञान मिथ्या" वह वस्तु के सामान्य-विशेषात्मक स्वरूप को स्वीकार करने पर ही सम्भव है तथा "यही सत्य है" यह वस्तु की विशेषताओं को जानने पर ही कहा जा सकता है जो उसके स्वरूप को द्रव्य-पर्यायात्मक सिद्ध करता है ।

अध्याय पाँच

-: ज्ञान के प्रकार :-

सामान्यतया ज्ञान को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है - प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष (सम्पर्क) पूर्वक होने वाला पदार्थ का साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है तथा किसी अन्य ज्ञान की सहायता से होने वाला पदार्थ का ज्ञान परोक्ष कहा जाता है। जैन दार्शनिक भी ज्ञान के उपर्युक्त भेदों को स्वीकार करते हैं लेकिन वे प्रत्यक्ष को इन्द्रियार्थ सन्निकर्ण द्वारा अव्यवहित रूप से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के रूप में परिभाषित न कर आत्म मात्र सापेक्ष ज्ञान के रूप में परिभाषित करते हैं तथा इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होने वाला समस्त ज्ञान उनके अनुसार परोक्ष है।

"प्रत्यक्ष" का शाब्दिक अर्थ है " जो अक्ष के प्रति साक्षात रूप से उत्पन्न हो"। सामान्यता "अक्ष" का प्रयोग इस संदर्भ में इन्द्रिय मात्र के लिये किया जाता है, लेकिन इस शब्द का आत्मा अर्थ भी होता है तथा जैन दार्शनिक प्रत्यक्ष और परोक्ष को परिभाषित करते समय "अक्ष" का प्रयोग आत्मा अर्थ में ही करते हैं।

उनके अनुसार " जो ज्ञान इन्द्रिय, मन आदि समस्त पर पदार्थों की अपेक्षा से रहित तथा आत्म मात्र सापेक्ष हो, दूसरे शब्दों में जो ज्ञान विशिष्ट क्षयोपशम से युक्त अथवा समस्त आवरण कर्मों के पूर्ण क्षय से युक्त आत्मा के प्रति नियत होता है तथा किसी आत्म भिन्न पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखता उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है।[1] पराधीन ज्ञान को परोक्ष कहा गया है। इन्द्रिय, मन, प्रकाश, उपदेशादि पर हैं। उनकी सहायता से उत्पन्न होने वाला ज्ञान परोक्ष ज्ञान है।[2]

जैन दर्शन के अनुसार इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध के आधार पर प्रत्यक्ष और परोक्ष को परिभाषित नहीं किया जा सकता क्योंकि इन्द्रियों का ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया में बहुत गौण स्थान है। जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं ज्ञान आत्मा

---

1. तत्वार्थ वार्तिक; पृष्ठ-53
2. वही; पृष्ठ-52

का स्वभाव है, तथा ज्ञानोत्पत्ति का प्रमुख कारण आत्मा की जानने की क्षमता है। इस क्षमता के पूर्ण रूपेण अथवा बहुत प्रखर रूप से प्रकट होने पर आत्मा अन्य निपेक्ष रूप से पदार्थों को जानता है। संसारी अवस्था में व्यक्ति की ज्ञान शक्ति के बहुत मन्द हो जाने पर वह इन्द्रिय और मन की सहायता से ही पदार्थों को जान पाता है।

इन्द्रियों का ज्ञानोपत्पत्ति के कारणों में बहुत गौण स्थान होने तथा आत्मा की स्वाभाविक ज्ञान सामर्थ्य ही ज्ञान का प्रमुख कारण होने के कारण जैन दर्शन में आत्म मात्र सापेक्ष ज्ञान को ही वास्तव में प्रत्यक्ष माना गया है; लेकिन अन्य दार्शनिकों तथा लौकिक जनों द्वारा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्य साक्षात्कारात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहे जाने के कारण अकलंक ने प्रत्यक्ष के लक्षण को व्यापक बनाते हुए उसे "विशद ज्ञान" के रूप में परिभाषित किया तथा उसके दो भेद किये - मुख्य प्रत्यक्ष तथा साम्व्यावहारिक प्रत्यक्ष।[1] विशद ज्ञान वह ज्ञान है जो किसी अन्य ज्ञान के व्यवधान से रहित हो तथा वस्तु के विशिष्ट स्वरूप को जानने वाला हो।[2] प्रत्यक्ष की इस परिभाषा के अनुसार "मति ज्ञान" जिसे अन्य दार्शनिक इन्द्रिय तथा मानस प्रत्यक्ष कहते हैं, भी प्रत्यक्ष के अन्तर्गत आ जाता है लेकिन यह साम्व्यवहारिक-लोक व्यवहार के अनुसार प्रत्यक्ष है। मुख्य प्रत्यक्ष अवधि, मन पर्यय और केवल ज्ञान है जिन्हें जैन परम्परा में प्रारम्भ से ही प्रत्यक्ष कहा गया है, हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र, जो कि समस्त प्रारम्भिक जैन सिद्धान्तों का संक्षिप्त संग्रह है, में ज्ञान के पांच भेद बताये गये हैं - मति, श्रुत, अवधि, मनः पयर्य, और केवल ज्ञान।[3] इनमें प्रथम दो को परोक्ष[4] तथा शेष को प्रत्यक्ष कहा गया है।[5] मतिज्ञान, जिसे जैन आगमों में "आभिनिबोधिक ज्ञान" भी कहा गया है, के विभिन्न प्रकार मति, स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) बताये गये हैं।6 षट्खण्डागम

----

1. लघीयस्त्रय - 1/3
2. परीक्षा मुख सूत्र-2/4
3. तत्वार्थ सूत्र 1/9
4. वही 1/11
5. वही 1/12
6. तत्त्वार्थ सूत्र-1/13

तथा उसका अनुसरण करने वाले ग्रन्थों में इसके भेद मति, स्मृति, संज्ञा और चिन्ता ही बताये गये हैं[1] तथा अनुमान को श्रुतज्ञान के अन्तर्गत रखा गया है।

अकलंक के दार्शनिक ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्तों को माणिक्य नन्दी ने परीक्षा मुख सूत्र में सूत्र रूप से व्यवस्थित किया है। वहाँ पर प्रमाण (यथार्थ ज्ञान जो स्वयं ही विषय बोध का कारण भी है) के दो भेद प्रत्यक्ष और परोक्ष किये गये हैं।[2] प्रत्यक्ष के दो भेद साम्व्यवहारिक तथा मुख्य प्रत्यक्ष है[3] तथा प्रत्यक्षादि के निमित्त से उत्पन्न होने वाले स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम को परोक्ष कहा गया है।[4] प्रमाणों का यह वर्गीकरण लगभग सभी परवर्ती दार्शनिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

अब हम तत्वार्थ सूत्र में वर्णित ज्ञान के भेद मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान का वर्णन करेंगें।

मति ज्ञान अथवा आभिनिबोधिक ज्ञान :-

विषय का इन्द्रिय तथा मन की सहायता से उत्पन्न होने वाला ज्ञान मति ज्ञान कहलाता है।[5] यह ज्ञान मतिज्ञानावरणीय तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम रूप अन्तरंग कारण और इन्द्रिय तथा मन रूप बहिरंग कारणों से उत्पन्न होता है।[6] इसे आभिनिबोधिक ज्ञान भी कहा जाता है। अभिमुख तथा नियमित अर्थ के बोध को अभिनिबोध कहा जाता है। स्थूल, वर्तमान, तथा अनन्तरित अर्थात् व्यवधान रहित अर्थ " अभिमुख" तथा 'इस इन्द्रिय का यही विषय है" इस प्रकार के नियम से युक्त अर्थ "नियमित" है। चक्षुरिन्द्रिय में रूप, श्रोत्रेन्द्रिय में शब्द, जिह्वेन्द्रिय में रस, स्पर्शनेन्द्रिय में स्पर्श तथा मन में दृष्ट,

---

1. धवला, पुस्तक, 13, पृष्ठ:- 244
2. परीक्षा मुख सूत्र-2/2
3. वही, अध्याय-2, सूत्र-5 तथा 12
4. वही - 3/2
5. तत्त्वार्थ सूत्र 1/14
6. वृहत् द्रव्य संग्रह; पृष्ठ-18

श्रुत तथा अनुभूत अर्थ नियमित हैं। इस प्रकार अभिमुख तथा नियत अर्थ में होने वाला बोध ही आभिनिबोधिक ज्ञान है।[1]

इन्द्रिय तथा मन की सहायता से उत्पन्न होने वाला समस्त ज्ञान मति ज्ञान कहलाता है। मति, स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क), अभिनिबोध (अनुमान) आदि मति ज्ञान के विभिन्न प्रकार हैं।[2] इनमें अवग्रह, ईहा, अवाय तथा धारणा रूप मति ज्ञान साक्षात् इन्द्रिय निमित्त है तथा स्मृति आदि परम्परा से इन्द्रिय निमित्तक हैं। धारणा पर्यन्त मति ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रिय तथा मन द्वारा होती है, जबकि स्मृति आदि की उत्पत्ति मात्र मन द्वारा होती है।[3]

इन्द्रिय का स्वरूप :-

पूज्यपाद "इन्द्रिय" का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं, "ज्ञान और ऐश्वर्य वाला होने के कारण आत्मा ही इन्द्र है। वह ज्ञान स्वभावी होने पर भी ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने पर स्वयं पदार्थों को जानने में असमर्थ होता है। उस समय आत्मा का जो लिंग अर्थात् अर्थोपलब्धि का साधन है, उसे इन्द्रिय कहा जाता है।[4]

ज्ञानेन्द्रियाँ पांच हैं :- स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, तथा श्रोत्र[5] जिनके विषय क्रमशः स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द हैं।[6] ये पांचों ही इन्द्रियाँ द्रव्येन्द्रिय तथा भावेन्द्रिय के भेद से दो प्रकार की हैं।[7] द्रव्येन्द्रियों के भी दो भेद हैं निर्वृत्ति तथा उपकरण।[8] नाम कर्म के उदय से निर्मित इन्द्रिय के आकार को निर्वृत्ति कहते हैं। एक विशेष परिमाण से युक्त विशुद्ध आत्म प्रदेशों की चक्षुरादि के आकार रूप से रचना आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहलाती है। नाम कर्म के उदय से शरीर पुद्गलों की इन्द्रियों के

----

1. धवला-पुस्तक-6; पृष्ठ-15-16
2. मतिःस्मृति चिन्ता अभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् तत्त्वार्थ सूत्र1/13
3. तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक, पृष्ठ-217
4. सर्वार्थ सिद्धि; पृष्ठ - 77 (द्वितीय संस्करण)
5. तत्त्वार्थ सूत्र2/13
6. वही 2/19
7. सर्वार्थ सिद्धि, पृष्ठ-175
8. तत्त्वार्थ सूत्र2/17

आकार रूप से रचना होना बाह्य निर्वृत्ति है। जो निर्वृत्ति का उपकार करे वह उपकरण है। आँख में सफेद और काला मण्डल आभ्यन्तर उपकरण है तथा पलक आदि बाह्य उपकरण हैं।[1]

प्रायः सभी जैनातिरिक्त दर्शनों में इन्द्रियों को जड़ ही स्वीकार किया गया है। नैयायिकों के अनुसार प्रत्येक इन्द्रिय का निर्माण उसका विषय बनने योग्य गुण के आधार भूत द्रव्य से होता है। उदाहरण के लिये गन्ध नासिका का विषय है तथा यह पृथ्वी महाभूत का गुण है। अतः नासिका का निर्माण पृथ्वी महाभूत के परमाणुओं से होता है। इसी प्रकार त्वचा, जिह्वा, चक्षु तथा श्रोत्र क्रमशः वायु, जल, अग्नि तथा आकाश महाभूत से उत्पन्न होते हैं।[2] सांख्य दर्शन में इन्द्रियों के दो भेद किये गये हैं - स्थूल तथा सूक्ष्म। स्थूल इन्द्रियाँ पंच महाभूतों से तथा सूक्ष्म इन्द्रियाँ पंच तन्मात्राओं से उत्पन्न होती हैं। नैयायिकों के अनुसार इन्द्रिय मात्र, सांख्य के अनुसार सूक्ष्म इन्द्रिय प्रत्यक्षगम्य न होकर अनुमान का विषय हैं। जैन दार्शनिकों के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु पृथक-पृथक द्रव्य न होकर एक ही द्रव्य -पुद्गल हैं तथा शरीर के अंग के रूप में स्थित जड़ इन्द्रियाँ पुद्गल परमाणुओं से ही निर्मित होती हैं। द्रव्येन्द्रिय का निर्वृत्ति और उपकरण रूप भेद का आधार न तो उपादान कारण की भिन्नता है और न ही इनके जानने के साधनों की भिन्नता अपितु इसका आधार इनमें विद्यमान आधार आधेय रूप भेद है। शरीर में नाम कर्म के उदय से निर्मित इन्द्रियाकार रचना निर्वृत्ति है तथा इस निर्वृत्ति में विद्यमान दृष्टि आदि क्रिया के सहायक विभिन्न अंग उपांग ही उपकरण हैं। किसी इन्द्रिय के विभिन्न अंशों की मात्रा और क्षमता के अनुसार ही दृष्टि आदि क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं। ये दोनों ही प्रकार की इन्द्रियाँ इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय हैं तथा पुद्गल द्रव्य से निर्मित हैं। इसी लिये किसी इन्द्रिय के किसी उपकरण, जिनके अवलम्बन पूर्वक उस इन्द्रिय की क्रिया सम्पन्न होती है, में विकार उत्पन्न होने पर उसकी चिकित्सा की जा सकनी सम्भव है।

---

1. तत्वार्थ वार्तिक, पृष्ठ-356
2. तर्कभाषा; पृष्ठ-205

इन्द्रियाकार रचना मात्र शरीर में ही नहीं होती अपितु आत्म प्रदेशों में भी होती है। एक विशेष इन्द्रिय से संयुक्त आत्म प्रदेशों में उस इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करने की विशेष क्षमता उत्पन्न हो जाती है। ऐसे आत्म प्रदेशों के आकार को आभ्यन्तर निवृत्ति कहा जाता है। जिस प्रकार बाह्य निवृत्ति में स्थित उपकरण अर्थात् उस इन्द्रिय के विभिन्न अंग उपांग के द्वारा ही उस इन्द्रिय की क्रिया सम्पन्न होती है, इसी प्रकार आभ्यन्तर निवृत्ति के उपकरण "लब्धि" और "उपयोग" हैं, जिसके अनुसार ही व्यक्ति जड़ इन्द्रियों का अवलम्बन लेकर विषय को जानता है। "लब्धि" का अर्थ है - जीव की विषय को ग्रहण करने की सामर्थ्य तथा "उपयोग" का अर्थ है विषय को ग्रहण करने हेतु प्रवृत्ति । जीव जिस समय जिस इन्द्रिय के विषय को जानने के लिये प्रवृत्त होता है, उस समय वह अपनी क्षमता के अनुसार उस इन्द्रिय के विषय को जानता है।

लब्धि तथा उपयोग को भावेन्द्रिय कहा जाता है।[1] जीव का स्वयं इन्द्रिय अर्थात् अर्थोपलब्धि के साधन रूप से परिणत होना ही भावेन्द्रिय है।[2] भावेन्द्रियों के सद्भाव में ही द्रव्येन्द्रियाँ - पौद्गलिक अथवा जड़ इन्द्रियाँ विषय बोध के प्रति उपयोगी हो सकती हैं। सामान्य व्यक्ति जड़ इन्द्रियों तथा मन के अवलम्बन पूर्वक ही पदार्थों को जानता है, लेकिन यह तभी सम्भव है जबकि उसमें पदार्थ को जानने की क्षमता हो, तथा वह पदार्थ को जानने के लिये प्रवृत्त हो। व्यक्ति जब जिस इन्द्रिय का अवलम्बन लेकर जिस विषय को जानने के लिये प्रवृत्त होता है, तब उसे उसकी शक्ति के अनुसार वह विषय ज्ञात होता है। व्यक्ति में विषय बोध की क्षमता का अभाव होने पर अथवा विषय को जानने के लिये प्रवृत्ति का अभाव होने पर पड़ इन्द्रियाँ उसमें विषय बोध उत्पन्न करने में असमर्थ हैं ।

ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया के सम्बन्ध में प्रायः यह मान्यता है कि निष्क्रिय आत्मा या चेतन सत्ता में इन्द्रिय तथा मन द्वारा यान्त्रिक रूप से विषय बोध उत्पन्न कर दिया जाता है। कणाद कहते हैं - "पदार्थ, इन्द्रिय, मन तथा आत्मा का संयोग

---

1. तत्त्वार्थ सूत्र 2/18
2. तत्त्वार्थ वार्तिक, पृष्ठ - 357

होने पर आत्मा में पदार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है।[1] उदाहरणार्थ घट का चक्षु से संयोग होने पर, चक्षु का मन से संयोग होने पर तथा मन का आत्मा से संयोग होने पर आत्मा में घट ज्ञान की उत्पत्ति होती है। वाचस्पति मिश्र कहते हैं - "पदार्थ का इन्द्रियों द्वारा आलोचन किये जाने पर उस पर मन उस पर संकल्प विकल्प करता है। तदुपरान्त बुद्धि उस विषय के आकार को धारण करती है। उस विषयाकार बुद्धि पर चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने पर विषय प्रकाशित होता है, जिसके फलस्वरूप वह ज्ञात होता है।[2] ज्ञान की इस प्रक्रिया के अनुसार चेतन पुरुष या आत्मा विषय को जानने के लिये किसी प्रकार का प्रयास नहीं करता। इन्द्रियाँ, मन आदि ज्ञान के वाह्य जड़ साधन जब जिस विषय से सम्बद्ध होते हैं तब उस विषय का ज्ञान आत्मा में स्वतः ही उत्पन्न हो जाता है।

यदि जड़ इन्द्रियाँ तथा मन ही ज्ञानोत्पत्ति के साधन हों, यदि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष मात्र से वस्तु ज्ञात हो जाती हो तो इन्द्रियों की क्षमता समान होने पर तथा समान वस्तु से इन्द्रिय के सम्बद्ध होने पर विभिन्न व्यक्तियों को वस्तु का समान ज्ञान होना चाहिये । लेकिन उनके ज्ञान में व्यापक अन्तर पाया जाता है। दो व्यक्ति एक कपड़े का स्पर्श करते हैं। एक मात्र यही जान पाता है कि यह कपड़ा है, जबकि दूसरा उसे उसके प्रकार, गुणवत्ता, टिकाउपन आदि अनेक विशेषताओं सहित जानता है। दो व्यक्ति एक ही गायन को सुनते हैं। एक को मात्र कुछ स्वरों का प्रत्यक्ष होता है, जबकि दूसरा उसे सुनते समय यह भी जानता है कि वह किस राग में गाया जा रहा है तथा किन गुण-दोषों से युक्त है। वास्तव में ज्ञान की व्याख्या जड़ इन्द्रियों तथा मन मात्र को ज्ञान का साधन स्वीकार करके नहीं की जा सकती । जब तक आत्मा स्वयं इन्द्रिय रूप से परिणत न हो, जब तक उसमें बाहरी इन्द्रियों को काम में लेने की क्षमता नहीं हो तथा जब तक वह उन्हें काम में लेने के लिये प्रयत्नशील नहीं हो जड़ इन्द्रियाँ अकिंचित्कर हैं। संसारी अवस्था में व्यक्ति की ज्ञान शक्ति के कर्मों द्वारा आवृत होकर मन्द हो जाने के कारण उसे जड़ इन्द्रिय तथा मन की सहायता से ही ज्ञान हो सकता है। ये कर्म बद्ध

---

1. वैशेषिक सूत्र - 3 / 1/18
2. सांख्य तत्त्व कौमुदी; पृष्ठ - 236

आत्मा के बाहरी वस्तुओं से सम्पर्क के माध्यम मात्र हैं। जिस प्रकार एक बन्द कमरे में स्थित व्यक्ति कमरे में विद्यमान खिड़कियों के द्वारा ही बाहरी जगत से सम्पर्क स्थापित कर सकता है, लेकिन ये खिड़कियाँ उसमें जगत के ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकतीं, उसी प्रकार सामान्य व्यक्ति को किसी वस्तु का चाक्षुष प्रत्यक्ष चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा ही हो सकता है, लेकिन जड़ चक्षु की क्षमता मात्र यही निर्धारित करती है कि व्यक्ति कितनी दूर की वस्तु को देख सकता है, उसके द्वारा यह निर्धारित नहीं हो सकता कि व्यक्ति क्या देखेगा तथा जो देखेगा उसे कितने स्पष्ट रूप से जानेगा। इस बात का निर्धारण लब्धि और उपयोग रूप भावेन्द्रियों द्वारा ही हो सकता है। इसलिये जैन दार्शनिक इन्द्र-ज्ञानादि ऐश्वर्य से युक्त आत्मा के लिंग-अर्थोपलब्धि के साधन के रूप में द्रव्येन्द्रियों के साथ ही साथ भावेन्द्रियों की सत्ता भी स्वीकार करते हैं।

मन का स्वरूप :-

जैन दर्शन में मन को अनिन्द्रिय या नोइन्द्रिय कहा गया है जिसका अर्थ इन्द्रिय का अभाव न होकर ईषत् इन्द्रिय है। जिस प्रकार "अनुदरा कन्या" इस प्रयोग में "अनुदरा" का अर्थ उदर का पूर्णतया अभाव नहीं है अपितु छोटे पेट वाली लड़की को "अनुदरा कन्या" कहा जाता है उसी प्रकार मन के लिये भी ईषत् इन्द्रिय रूप से अनिन्द्रिय पद का प्रयोग किया गया है। इसका कारण यह है कि इन्द्रियाँ नियत देश में स्थित पदार्थ को विषय करती हैं, तथा कालान्तर में स्थित रहती हैं लेकिन मन इन्द्र का लिंग होते हुए भी प्रतिनियत देश में स्थित पदार्थ को विषय नहीं करता तथा कालान्तर में स्थित नहीं रहता।[1]

मन को अन्तः करण कहा गया है क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों के समान इसकी बाहर उपलब्धि नहीं होती। इसका कार्य गुण-दोष विचार, स्मरण आदि हैं जिन्हें वह इन्द्रियों की सहायता के बिना ही सम्पन्न करता है।[2]

इन्द्रियों के समान ही मन के भी दो भेद हैं - द्रव्य मन तथा भाव मन। द्रव्य मन का निर्माण मनोज्ञानावरणीय तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम और अंगोपांग नाम कर्म

---

1. सर्वार्थ सिद्धि, पृष्ठ - 109
2. सर्वार्थ सिद्धि, पृष्ठ-109

के उदय से होता है। भाव मन लब्धि तथा उपयोग रूप है। मनोज्ञानावरणीय तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई आत्मा की विशुद्धि को ही भाव मन कहा गया है।[1] यह विशुद्धि सम्पूर्ण आत्म प्रदेशों में व्याप्त होती है।[2]

नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के अनुसार द्रव्य मन का स्थान हृदय है जहाँ पर पुद्गल परमाणुओं द्वारा आठ पाँखुड़ी के कमल के आकार में अंगोपांग नाम कर्म के उदय से द्रव्य मन का निर्माण होता है।[3] इस धारणा को जैन दर्शन में व्यापक समर्थन प्राप्त है। इसके विपरीत पूज्यपाद ने मन को "अनवस्थित" कहा है।[4] उसी का समर्थन करते हुए अकलंक कहते हैं कि मन अनवस्थित है। जहाँ-जहाँ उपयोग होता है वहाँ-वहाँ अंगुल के असंख्यात भाग प्रमाण आत्म प्रदेश मन रूप से परिणत हो जाते हैं। भाव मन रूप से परिणत आत्मा जब गुण दोष विचार, चिन्तन, स्मरणादि कार्यों को करने के लिये प्रवृत्त होता है तो वह इन कार्यों को द्रव्य मन की सहायता से करता है। द्रव्य मन का निर्माण इन कार्यों को करते समय ही होता है तथा उसके उपरान्त वह नष्ट हो जाता है। चिन्तनादि कार्य करते समय पुद्गल परमाणुओं से निर्मित अनेक मनोवर्गणाएँ मन रूप से परिणत होती हैं तथा उस कार्य को करने के उपरान्त मन रूप अवस्था का परित्याग कर देती हैं।[5]

वैशेषिक दर्शन के अनुसार मन अणु रूप होता है। यह एक नित्य द्रव्य है तथा प्रत्येक आत्मा का एक मन से अनादि सम्बन्ध होता है। यह जिस समय जिस इन्द्रिय के विषय से संयुक्त होता है उस समय आत्मा को उस इन्द्रिय के विषय का ज्ञान होता है। इस प्रकार ज्ञान मात्र की उत्पत्ति में मन अनिवार्य कारण है। इसके साथ ही आत्मा को सुख-दुःख का ज्ञान मन के द्वारा उनका प्रत्यक्ष किये जाने पर ही होता है।

---

1. वही, पृष्ठ - 170
2. जैन लक्षणावली, पृष्ठ-880
3. गोम्मट सार-जीव काण्ड; गाथा-443
4. सर्वार्थ सिद्धि; 1/14
5. तत्वार्थ वार्तिक पृष्ठ-47।

अंकलक कहते हैं कि मन को अणु रूप मानने पर चक्षु के जिस अंश से मन का संयोग हो उसी से रूप ज्ञान दृष्टिगोचर होना चाहिये पर समस्त चक्षु के द्वारा रूप ज्ञान देखा जाता है; अतः मन अणु रूप नहीं है। अणु मन को आशु संचारी मानकर पूरे चक्षु आदि से सम्बन्ध मानना उचित नहीं है, क्योंकि अचेतन मन से बुद्धि पूर्वक व्याप्ति और क्रिया नहीं हो सकती। मन और आत्मा का अनादि सम्बन्ध मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि मन और आत्मा का संयोग सम्बन्ध है। अप्राप्तिपूर्वक प्राप्ति को संयोग कहा जाता है जो आत्मा के विभु होने के कारण इन दोनों में सम्भव नहीं है।[1]

मन का कार्य ज्ञान मात्र में सहायक होना न होकर चिन्तन, स्मरण आदि हैं तथा यह उसी ज्ञान में सहायक होता है जिसमें चिन्तन की आवश्यकता होती है। अवग्रह मन निरपेक्ष होता है। यह इन्द्रिय तथा पदार्थ के सन्निधान मात्र से उत्पन्न होता है तथा इसमें किसी भी प्रकार के मानसिक संकल्प विकल्प का कोई स्थान नहीं है। ईहा मन सापेक्ष होती है क्योंकि इसमें अवगृहीत अर्थ के विशेषस्वरूप का अन्वेषण करते समय विभिन्न मानसिक विकल्पों का अवलम्बन लिया जाता है। स्मृति, प्रत्य-भिज्ञानादि तथा श्रुतज्ञान मन पूर्वक ही होते हैं ।

जैन सुखदुःखादि के प्रत्यक्ष के लिये मन को एकमात्र कारण स्वीकार नहीं करते। अंकलंक कहते हैं, "वस्तुतः गरम लोहपिण्ड की तरह आत्मा का ही मन रूप से परिणमन हुआ है, अतः चेतन रूप होने से इन्द्रियाँ स्वयं सुख-दुःख का वेदन करती हैं। यदि मन के बिना स्वयं इन्द्रियों में सुखदुःखानुभव न हो तो एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को सुख-दुःख का अनुभव नहीं होना चाहिये। गुणदोष विचारादि मन के स्वतन्त्र कार्य हैं। मनोलब्धि वाले आत्मा को जो पुद्गल मन रूप से परिणत हुए हैं वे अन्धकार, तिमिरादि बाह्येन्द्रियों के उपघातक कारणों के रहते हुए भी गुणदोष विचार और स्मरण आदि व्यापार में सहायक होते ही हैं। इसलिये मन का स्वतन्त्र अस्तित्व है।"[2]

---

1. तत्वार्थ वार्तिक पृष्ठ-472
2. वही - पृष्ठ - 68।

मति ज्ञान :-

इन्द्रियों तथा मन के द्वारा विषय के साक्षात्कार से उत्पन्न ज्ञान को मति ज्ञान कहा जाता है। इन्द्रिय तथा मन आत्मा से भिन्न होने के कारण "परे" हैं। तथा इनकी सहायता से उत्पन्न होने के कारण यह ज्ञान परमार्थतः परोक्ष है; लेकिन अन्य सभी दार्शनिकों तथा सामान्य व्यक्तियों द्वारा इस ज्ञान को "प्रत्यक्ष" कहा जाता है, इसलिये जैन दार्शनिक इसे साम्व्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। आम तौर पर प्रत्यक्ष का विकास दो ही चरणों में स्वीकार किया जाता है : निर्विकल्पक तथा सविकल्पक। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के उपरान्त प्रथम क्षण में पदार्थ के नाम, जाति आदि की योजना रहित ग्रहण को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहा जाता है। उसके पश्चात् वस्तु का नाम, जाति आदि की योजना सहित ग्रहण होता है, जो सविकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है।

जैन दार्शनिकों के अनुसार वस्तु का सविकल्पक ग्रहण ही ज्ञान है। इसलिये वे इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के उपरान्त उत्पन्न चेतना की निर्विकल्पक स्थिति को "दर्शन" कहते हैं। इसके पश्चात् उत्पन्न होने वाला निश्चयात्मक बोध ही ज्ञान कहलाता है। इन्द्रियों के द्वारा वस्तु का स्वरूप द्वितीय क्षण में ही स्पष्टतया ज्ञात नहीं हो जाता। इन्द्रिय प्रत्यक्ष कई क्षणों तक निरन्तर चलती रहने वाली प्रक्रिया है, जिसमें वस्तु का स्वरूप क्रमशः अस्पष्ट रूप से ज्ञात होते हुए स्पष्ट होता है। पूज्यवाद मति ज्ञान का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं - "इन्द्रियतथा मन के द्वारा यथायोग्य पदार्थ जिसके द्वारा मनन किये जाते हैं, जो मनन करता है तथा मनन करना मात्र मतिज्ञान है।"[1] हरिभद्र कहते हैं, "मनन करना, अर्थात् वस्तु के स्थूल धर्मों को जानते हुए सूक्ष्म धर्मों का आलोचन करने वाली बुद्धि मति है।[2] उमास्वामी के अनुसार इन्द्रिय तथा मन के निमित्त से शब्द, रस, स्पर्श, रूप और गन्धादि विषयों में अवग्रह, ईहा, अवाय तथा धारणा रूप से जो ज्ञान होता है, वह मति ज्ञान है।[3]

---

1. सर्वार्थ सिद्धि, पृष्ठ-93
2. नन्दी सूत्र हरीभद्र सूरि वृत्ति, पृष्ठ-58
3. अवग्रहेहावायधारणा। तत्वार्थ सूत्र 1/15

अकलंक मति ज्ञान की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहते हैं - विषय विषयी का सन्निधान होने पर वस्तु का दर्शन होता है। इसके उपरान्त होने वाला पदार्थ का आद्य ग्रहण " अवग्रह" कहलाता है। अवगृहीत अर्थ के विशेष स्वरूप को जानने की आकांक्षा "ईहा" है। जैसे " यह पुरूष है" ऐसा आद्य ग्रहण होने पर पुन: उसकी भाषा, उम्र, रूपादि विशेष स्वरूप को जानने की आकांक्षा ईहा कहलाती है। भाषादि विशेषताओं के द्वारा वस्तु के विशेष स्वरूप का निश्चय अवाय है। जैसे यह दक्षिणी है, युवा है, गौर वर्ण है इत्यादि। निश्चित विशेष की कालान्तर में स्मृति के कारण को धारणा कहा जाता है।[1]

जिन भद्रगणि ने अवग्रह की अवस्था को ज्ञान न मानकर दर्शन कहा है तथा उसे पूर्णतया सामान्य मात्र ग्राही माना है। उनके अनुसार अवग्रह में वस्तु का सभी विशेषताओं से रहित पूर्ण-रूपेण सामान्य ग्रहण होता है। अवगृहीत अर्थ के विशेष स्वरूप को जानने के लिये ईहा होती है, जिसके फलस्वरूप अवाय में ही वस्तु के विशेष स्वरूप का ग्रहण होता है। उदाहरण के लिये सर्व प्रथम जो शब्द का प्रतिभास होता है, उसमें इस कि निश्चय का अभाव होता है कि " यह शब्द है, अशब्द नहीं"। यह स्थिति अवग्रह है। अवगृहीत अर्थ के प्रति " यह शब्द है या अशब्द" इस प्रकार की जिज्ञासा ईहा है। इसके पश्चात् उत्पन्न होने वाला अवाय ही " यह शब्द ही है" वस्तु के विशेष स्वरूप का निश्चयात्मक बोध है। यदि अवग्रह को ही वस्तु के विशेष स्वरूप का निश्चायक मान लिया जाय तो सभी ज्ञान अवग्रह ही हो जायेगें तथा अवाय की सत्ता ही नहीं रहेगी।[2]

अकलंक ने अवग्रह को निश्चयात्मक माना है तथा प्राय: सभी जैन दार्शनिक इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। वास्तव में यदि अवग्रह में वस्तु की किसी भी विशेषता का किंचित् भी ज्ञान नहीं हो तो उसके प्रति किसी भी प्रकार का संशय तथा उस संशय की निवृत्ति हेतु अन्वेषण - ईहा नहीं हो सकती। संशय की उत्पत्ति वस्तु की सामान्य-

---

1. तत्वार्थ वार्तिक, पृष्ठ -60
2. विशेषावश्यक भाष्य; गाथा-251-255

व्यापक धर्मों के ज्ञात होने पर तथा विशेष-व्याप्य धर्मों के ज्ञात नहीं होने पर होती है। इस संशय के निराकरण के लिये ईहा होती है जिसका परिणाम अवाय-वस्तु के अस्वरूप के निराकरण पूर्वक स्वरूप का निश्चय है। यदि अवग्रह में वस्तु की किसी भी विशेषता का किंचित् भी ज्ञान नहीं हुआ हो तो वह पूर्णतया अज्ञात होगी तथा अज्ञात वस्तु के प्रति किसी भी प्रकार का संशय, ईहादि सम्भव नहीं है।

अवग्रह और अवाय के संदर्भ में सामान्य और विशेष पदों का प्रयोग सापेक्ष अर्थ में किया गया है। अधिक व्यापक को सामान्य तथा व्याप्य को विशेष कहा गया है। जैन दार्शनिकों के अनुसार अवग्रह की उत्पत्ति व्यक्ति के अवग्रहज्ञानावरणीय तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम् के अनुसार होती है। जिस व्यक्ति के इस कर्म का क्षयोपशम जितना प्रखर होता है उसे वस्तु के विशिष्ट स्वरूप का उतना ही प्रखर आधग्रहण होता है। इस जाने गये पदार्थ के और अधिक विशिष्ट स्वरूप को जानने के लिये व्यक्ति में जिज्ञासा हो सकती है, जिसके परिणाम स्वरूप उसे वस्तु के और अधिक विशिष्ट स्वरूप का निश्चय हो सकता है। यहां पर भी अवग्रह अवाय की तुलना में वस्तु के सामान्य स्वरूप का ज्ञान है। यदि अवग्रह को वस्तु की सभी विशेषताओं से रहित पूर्णरूपेण सामान्य स्वरूप का ग्रहण करने वाला माना जाय तो जैन दार्शनिकों द्वारा अवग्रहज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम् में अन्तर को स्वीकार करने का कोई अर्थ नहीं रहेगा, क्योंकि सभी व्यक्तियों के अवग्रह पूर्णरूपेण सामान्य मात्र ग्राही होने के कारण पूर्णरूपेण समान होगें। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न भी उठेगा कि एक ही प्रकार का अवग्रह विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न प्रकार की जिज्ञासाओं की उत्पत्ति किस प्रकार कर सकता है?

अवग्रह के निश्चयात्मक होने पर ही उसके पश्चात् ईहा, अवाय तथा धारणा की उत्पत्ति हो सकती है। इसे निश्चय रहित मानने पर ईहा की उत्पत्ति असम्भव होगी तथा इस प्रकार मति ज्ञान की सत्ता ही नहीं हो सकेगी।

अवग्रह के दो भेद किये गये हैं - व्यंजनावग्रह तथा अर्थावग्रह। अव्यक्त ग्रहण को व्यंजनावग्रह तथा व्यक्त ग्रहण को अर्थावग्रह कहा जाता है।

प्राप्यकारी अर्थात् विषय से सम्बद्ध होकर प्रवृत्त होने वाली इन्द्रियाँ - त्वचा, जिह्वा, नासिका तथा श्रोत्र से व्यंजनावग्रह पूर्वक ही अर्थावग्रह होता है । जिस प्रकार मिट्टी का नया सकोरा पानी को दो-तीन बून्दें डालने पर गीला नहीं होता किन्तु लगातार पानी डालते रहने पर गीला हो जाता है उसी प्रकार आत्मा में व्यक्त ग्रहणसे पूर्व अव्यक्त ग्रहण- व्यंजनावग्रह होता है । चक्षु तथा मन अप्राप्यकारी हैं अर्थात् विषय से सम्बद्ध हुए बिना ही उसे जानते हैं इसलिये इनसे ज्ञान के प्रथम क्षण में ही विषय का व्यक्त ग्रहण-अर्थावग्रह ही होता है ।[1]

ईहा-अवग्रह मात्र इन्द्रिय तथा अर्थ की योग्य देश अवस्थिति से उत्पन्न होता है जबकि ईहा के लिये मन का अवलम्बन भी अपेक्षित है । इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के उपरांत "यह पुरूष है" इस प्रकार का अवग्रह होने पर "यह उत्तरी है अथवा दक्षिणी" यह संशय होता है जिसके निराकरणार्थ होने वाला मानसिक विमर्श पूर्वक ऐन्द्रियिक प्रयत्न "ईहा" कहलाता है । वीरसेन कहते है, "सन्देह की परवर्ती, अवाय ज्ञान की पूर्ववर्ती तथा इन दोनों के अन्तराल में प्रवृत्त होने वाली विचार बुद्धि का नाम ईहा है ।[2]

ईहा अवगृहीत अर्थ के विशेष स्वरूप के बोध की आकांक्षा या जिज्ञासा का नाम है । षट्खण्डागम में मार्गणा, गवेषणा, मीमांसा आदि को ईहा का पर्याय वाची बताया गया है ।[3] नन्दी सूत्र में मीमांसा के स्थान पर "चिन्ता" पद का प्रयोग किया गया है । इन पदों का अर्थ स्पष्ट करते हुए हरिभद्र कहते हैं -"मार्गणा का अर्थ है अनुसन्धान करना । विद्यमान अर्थ की विशेषताओं की ओर अभिमुख होकर उसके उर्ध्व [विशिष्ट] अन्वय व्यतिरेकी धर्मों का अन्वेषण मार्गण कहलाती है । गवेषणा का अर्थ है अन्वेषण करना, यह विद्यमान वस्तु के विशेष धर्मों की ओर अभिमुख

----

1. तत्वार्थ वार्तिक, पृष्ठ-67
2. धवला पुस्तक -6 पृष्ठ-17
3. धवला पुस्तक 13 पृष्ठ-242

होती है तथा इसमें व्यतिरेगी धर्मों के परित्याग पूर्वक अन्वयी धर्मों का निश्चय गर्भित होता है अर्थात् इसके परिणाम स्वरूप वस्तु के व्यतिरेकी धर्मों के परित्याग पूर्वक अन्वयी धर्मों का निश्चय होता है । विशिष्ट क्षयोपशम होने पर विद्यमान अर्थ के विभिन्न धर्मों का अनुसरण करते हुए पुनःपुनः चिन्तन चिन्ता कहलाती है।[1]

श्रुतज्ञान भी चिन्तनात्मक तथा मानसिक होता है । ईहा तथा श्रुतज्ञान में यह अंतर है कि श्रुतज्ञान पूर्णतया इन्द्रिय निरपेक्ष होता है, उसमें इन्द्रियों से गृहीत अर्थ के सम्बंध से भिन्न अर्थ को जाना जाता है जबकि ईहा का विषय अवगृहीत अर्थ ही होता है तथा इसमें विभिन्न मानसिक विकल्पों का परीक्षण इन्द्रियों द्वारा ही किया जाता है । सामान्यतया हमारे ज्ञान में अवग्रह, ईहा, अवाय का क्रम बहुत तेजी से घट जाता है । प्रथम क्षण में हम आवाज सुनते हैं, द्वितिय क्षण में यह जिज्ञासा होती है कि यह आवाज किसकी है तथा कुछ देर बाद हमें यह निश्चय हो जाता है कि यह आवाज बाँसुरी की है लेकिन वैज्ञानिक ज्ञान के क्षेत्र में ईहा एक दीर्घकालीन प्रक्रिया है । ईहा के स्वरूप को समझने के लिये हम निम्नलिखित दृष्टान्त को देखें । डॉ० फ्लेमिंग अपने उद्यान में पौधों का निरीक्षण कर रहे थे । उन्होंने एक पौधे पर फफूंदी आयी हुई देखी तथा कुछ फफूंदी को नष्ट होते हुए देखा । इस दृश्य ने उनमें यह जिज्ञासा उत्पन्न की कि फफूंदी के नाश के क्या कारण हैं । उसके कारण को जानने के लिये आकांक्षित होकर प्रयोगशाला में अन्वेषण कार्य में लग गये तथा फफूंदी को नष्ट करने वाले जीवाणुओं का पता लगाया और पेनिसिलिन का निर्माण किया । फ्लेमिंग ने अन्वेषण की प्रक्रिया में कई प्राकल्पनाओं का निर्माण किया, उनका नियंत्रित परिस्थितियों में सत्यापन किया तथा असत्य पाये जाने पर नयी प्राकल्पनाओं का निर्माण किया ।

---

1. नन्दी सूत्र-हरिभद्र सूरि वृत्ति, पृष्ठ-50-51

यह प्रक्रिया तब तक चलती रही जब तक कि वे इस निश्चय पर नहीं पहुँच गये कि ये विशेष जीवाणु ही फफूँदी को नष्ट करने के कारण हैं । अवग्रह या प्रथम प्रत्यक्ष के पश्चात् उत्पन्न होने वाली तथा वस्तु के विशेष स्वरूप के निश्चय के पूर्व जारी रहने वाली इस अन्वेषण प्रक्रिया का नाम ही ईहा है जो स्वयं निर्णय रूप न होकर निर्णय हेतु प्रयत्न है ।

विभिन्न व्यक्तियों की ईहा समान नहीं होती । यह हो सकता है कि उनका अवग्रह समान हो और उनकी ईहा में गहरा अन्तर हो जिसका कारण उनके ईहा ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की विभिन्नता से उत्पन्न योग्यता का अंतर है ।

अवाय - ईहित अर्थ के विशिष्ट स्वरूप का निश्चय अवाय है । नंदी सूत्र में इसके अवाय, विज्ञान आदि पर्यायवाची बताये गये हैं जिनका अर्थ स्पष्ट करते हुए हरिभद्र कहते हैं - वस्तु के विशेष धर्मों के संकलन पूर्वक ईहा भाव का पूर्णतया परित्याग करते हुए होने वाला अवधारण "अवाय" कहलाता है । विशिष्ट ज्ञान को "विज्ञान" कहा जाता है । यह क्षयोपशम की विशेषतापूर्वक होता है तथा तीव्रतर धारणा का कारण है ।[1]

धारणा - अवाय ज्ञान के द्वारा किये गये निश्चय का परवर्ती क्षण में दृढ़ निश्चय रूप से परिणत होने पर उसे धारणा कहा जाता है । धारणा ज्ञान के संस्कारों के द्वारा ही कालांतर में पदार्थ की स्मृति होती है ।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विकास अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा के क्रम से ही होता है । प्रारम्भ में हम वस्तु के सामान्य स्वरूप का ग्रहण करते हैं । तत्पश्चात् उसके विशेष स्वरूप को जानने की जिज्ञासा होती है जिसके परिणाम स्वरूप होने वाले प्रयत्न के फलस्वरूप हमें वस्तु के विशेष स्वरूप का निश्चय होता है ।

----

1. नंदी सूत्र - हरिभद्र सूरि वृत्ति, पृष्ठ-51

यह आवश्यक नहीं है कि हमारे मति ज्ञान का विकास यहीं पर रूक जाय । अवाय ज्ञान हममें वस्तु के और अधिक विशिष्ट स्वरूप के प्रति नयी जिज्ञासाओं को उत्पन्न कर सकता है जिसके फलस्वरूप हमें वस्तु का और अधिक विशिष्ट बोध होता है ।

यह आवश्यक नहीं है कि मति ज्ञान में सदैव अवग्रह, ईहा, अवाय तथा धारणा चारों ही अवस्थाएं हों । कभी हमारे ज्ञान में अवग्रह, ईहा तथा अवाय ही होते हैं; कभी अवग्रह के बाद ईहा ही उत्पन्न होकर रह जाती है तथा कभी मात्र अवग्रह ही होता है ।[1]

मति ज्ञान के विषय बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, ध्रुव, एक, एकविध, अक्षिप्र, निसृत, उक्त तथा अध्रुव, इन 12 प्रकार के पदार्थ होते हैं ।[2] एक पदार्थ को जानने वाला मति ज्ञान एक विषयक तथा अनेक पदार्थों को जानने वाला मति ज्ञान बहु विषयक होता है । एक प्रकार की अनेक वस्तुओं को जानने वाला मति ज्ञान एकविध विषयक तथा अनेक प्रकार की अनेक वस्तुओं, जैसे - अनेक हाथी, अनेक घोड़े आदि को युगपत् जानने वाला मतिज्ञान बहुविध विषयक होता है । नैयायिकों के अनुसार अनेक वस्तुएं एक ज्ञान का विषय नहीं हो सकतीं । इस पर जैन कहते हैं कि यदि यह स्वीकार नहीं किया जाय कि अनेक वस्तुएं एक ज्ञान का विषय हो सकती हैं तो संशय, तुलना आदि असम्भव है । "यह स्थाणु है अथवा पुरूष" इस ज्ञान में स्थाणु तथा पुरूष दोनों को एक साथ विषय बनाया जा रहा है । "यह इससे छोटा है" यह इससे बडा है" इस प्रकार का तुलनात्मक बोध दो वस्तुओं को एक साथ जानने पर ही सम्भव है ।

तीव्र गति से जाते हुए पदार्थ को जानना क्षिप्र विषयक मति ज्ञान है तथा मन्द गति से जाते हुए पदार्थ को जानना अक्षिप्र विषयक मति ज्ञान है । आंशिक रूप से प्रकट अर्थ का ज्ञान अनिसृत मति ज्ञान कहलाता है । जैसे जल में डूबे हुए हाथी

---

1. धवला, पुस्तक-6, पृष्ठ-18
2. तत्वार्थ सूत्र 1/16

के ऊपरी भाग को देखकर "यह हाथी है" यह बोध । पूर्णतया प्रकट अर्थ का ज्ञान निसृत मतिज्ञान कहलाती है । बिना कहे हुए या अभिप्राय मात्र से ज्ञात अर्थ को अनुक्त तथा कहे हुए अर्थ के ज्ञान को उक्त मति ज्ञान कहा जाता है । किसी व्यक्ति की मुखाकृति को देखकर उसके मनोभावों को समझना, किसी व्यक्ति के कथन को सुनकर उसके गूढ अभिप्राय को समझना अनुक्त विषयक मति ज्ञान है । इसी प्रकार अग्नि के रूप को देखकर उसके स्पर्श का ज्ञान होना, आम के रूप को देखकर उसके रस का ज्ञान होना अनुक्त विषयक मति ज्ञान है । यह मति ज्ञान नैयायिकों के ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष के समान है ।

निरन्तर एकरूपता से जानने वाला मतिज्ञान ध्रुव मति ज्ञान है तथा पदार्थ को क्षयोपशम की विशुद्धि में होने वाले अंतर के अनुसार कभी कम तथा कभी अधिक रूप से जानने वाला मति ज्ञान अध्रुव विषयक मति ज्ञान है ।

यह बहु, बहुविध आदि मति ज्ञान पाँचों ज्ञानेन्द्रियों तथा मन से अवग्रह, ईहा, अवाय तथा धारणा के क्रम से होता है ।

मति ज्ञान के 336 भेद-मति ज्ञान के स्पार्शन, रासन, घ्राणज, चाक्षुष, श्रोत्रज तथा मानस ये 6 प्रकार हैं । ये सभी ज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय तथा धारणा रूप होते हैं अतः इनके 24 भेद तथा 4 इन्द्रियों से होने वाले व्यंजनावग्रह का योग करने पर 28 भेद हैं । यह 28 प्रकार का मति ज्ञान बहु, बहुविध आदि 12 प्रकार के विषयों को जानता है । अतः मति ज्ञान के 12 x 28 = 336 भेद हैं ।

स्मृति :-

पूर्वानुभूत अर्थ के संस्कार से उत्पन्न "वह" इस आकार के ज्ञान को स्मृति कहा जाता है ।[1] इन्द्रियों तथा मन के द्वारा जिस पदार्थ को पूर्व में जाना जा चुका

---

1. प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृष्ठ-335

है उसी की कालांतर में स्मृति होती है । बौद्ध स्मृति को प्रमाण-यथार्थ ज्ञान नहीं मानते । वे कहते हैं कि स्मृति का विषय भूतकालीन पदार्थ है जिसका वर्तमान में अभाव है । इस प्रकार असत् अर्थ का ग्राहक होने के कारण स्मृति अप्रमा है । जैन कहते हैं कि यह हो सकता है कि स्मृति का विषय वर्तमान काल में अस्तित्व नहीं रखता हो लेकिन वह पूर्णतया असत् अर्थ का ग्राहक नहीं है क्योंकि वह भूतकाल में अस्तित्व रखने वाले पदार्थ को जानती है तथा उसे भूतकाल में सत् रूप से ही जानती है । यह सदैव ही प्रमा अथवा अप्रमा नहीं होती अपितु जहाँ जहाँ यह अर्थ से अविसँवाद रखती है वहाँ वहाँ प्रमा तथा विसँवादी होने पर अप्रमा है ।

स्मृति हमारे समस्त लोक व्यवहार तथा ज्ञान का आधार है । हम वस्तुओं को पहचानना, भाषा का प्रयोग आदि सभी कार्य हममें स्मरण शक्ति की सत्ता होने पर ही सीख सकते है । हममें व्याप्ति ज्ञान की स्मृति उत्पन्न होने के उपरांत ही हम किसी वस्तु को अनुमान द्वारा जान सकते हैं ।

प्रत्यभिज्ञान :-

वर्तमान में पदार्थ के प्रत्यक्ष तथा पहले देखे हुए पदार्थ के स्मरण - इन दो ज्ञानों के संकलन पूर्वक उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है । प्रत्यभिज्ञान कई प्रकार का होता है - एकत्व, सादृश्य, वैलक्षण्य, प्रातियोगिक आदि ।"यह वही है" यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान है, "यह इसके सदृश है" यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है, " यह इससे विलक्षण है यह वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान तथा यह इसका प्रतियोगी है" यह प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान है ।[1]

---

1. परीक्षा मुख सूत्र 3/5

प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष तथा स्मरण से भिन्न एक स्वतंत्र ज्ञान है । इसका अंतर्भाव स्मरण के अंतर्गत नहीं किया जा सकता क्योंकि स्मरण का विषय मात्र भूतकालीन पदार्थ है । यह प्रत्यक्ष भी नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय मात्र इन्द्रियों के सम्मुख स्थित वर्तमानकालीन पदार्थ ही हो सकता है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि पहले देखे हुए पदार्थ के संस्कार से उत्पन्न स्मृति की सहायता से प्रत्यक्ष ही दो पर्यायों में व्याप्त वस्तु का एकत्व, दो वस्तुओं में व्याप्त सादृश्य आदि को जान लेता है, क्योंकि प्रत्यक्ष स्मृति से निरपेक्ष रूप से ही अपने विषय को जानता है । अतः प्रत्यभिज्ञान एक स्वतंत्र ज्ञान है [1] जो स्मृति तथा प्रत्यक्ष के संकलन से उत्पन्न होता है तथा इन दोनों से विलक्षण है ।

तर्क :-

व्याप्ति सम्बंध के ज्ञान के लिये जैन दार्शनिक तर्क नामक एक स्वतंत्र प्रमाण की सत्ता स्वीकार करते हैं । माणिक्यनंदी कहते हैं - अनेक अन्वयी और व्यतिरेकी दृष्टान्तों के निमित से (ज्ञानपूर्वक) होने वाला व्याप्ति सम्बंध का ज्ञान तर्क प्रमाण कहलाता है ।[2] इस तर्क प्रमाण जन्य व्याप्ति ज्ञान का स्वरूप है- इसके होने पर यह होता है तथा इसके अभाव में यह नहीं होता ।[2] जैसे- अग्नि के होने पर ही धूम होती है, अग्नि का अभाव होने पर धूम भी नहीं हो सकती।[3]

दो पदार्थों के मध्य विद्यमान व्याप्य व्यापक सम्बंध को व्याप्ति कहा जाता है । व्याप्य उसे कहा जाता है जो व्यापक के सद्भाव में ही पाया जाय, इसके अभाव में कभी नहीं पाया जाये, दूसरे शब्दों में यह व्यापक का अविनाभावी होता है, व्यापक के अभाव में कभी नहीं पाया जाता । उदाहरण के लिये धूम और अग्नि में धूम व्याप्य तथा अग्नि व्यापक है क्योंकि धूम का एक भी दृष्टान्त अग्नि के अभाव में उपलब्ध नहीं हो सकता, अग्नि व्यापक है क्योंकि उसकी धूम के अभाव में भी प्राप्ति हो सकती है । यह व्याप्ति सम्बंध दो पदार्थों के मध्य विद्यमान सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक सम्बंध है ।

---

1. परीक्षा मुख सूत्र 3/7 (2) परीक्षा मुख सूत्र 3/8 (3) परीक्षा मुख सूत्र 3/9

इस सार्वदेशिक सार्वकालिक सम्बंध का ज्ञान अनेक अन्वयी तथा व्यतिरेकी दृष्टान्तों के ज्ञान के उपरांत मन द्वारा होता है तथा इसे तर्क नामक एक स्वतंत्र प्रमाण कहा जाता है । व्याप्ति ज्ञान के लिये तर्क प्रमाण की आवश्यकता बताते हुए प्रभाचन्द्र कहते हैं कि प्रत्यक्ष के द्वारा व्याप्ति सम्बंध का ज्ञान नहीं हो सकता। इसके लिये यद्यपि कुछ अन्वयी और व्यतिरेकी दृष्टान्तों का प्रत्यक्ष आवश्यक है लेकिन मात्र इनके द्वारा व्याप्ति सम्बंध का ज्ञान नहीं हो सकता । अन्वयी दृष्टान्त वे दृष्टान्त हैं जिनमें एक वस्तु (धूम) का सद्भाव होने पर दूसरी (अग्नि) भी पायी जाती है तथा व्यतिरेकी दृष्टान्त वे कहलाते हैं जिनमें उसका (अग्नि) का अभाव होने पर वह (धूम) भी नहीं पायी जाती । प्रत्यक्ष इन्द्रियों से सम्बद्ध वर्तमानकालीन पदार्थ का ज्ञान है । इसमें किन्हीं पदार्थों के सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक सम्बन्ध को जानने की क्षमता नहीं है । धूम और अग्नि के कितने ही अन्वय व्यतिरेगी दृष्टान्तों का प्रत्यक्ष कर लिया जाय उनसे उन्हीं पदार्थों का ज्ञान हो सकता है, उनके मध्य विद्यमान सार्वदेशिक, सार्वकालिक सम्बंध का ज्ञान नहीं ।[1]

मानस प्रत्यक्ष द्वारा भी व्याप्ति सम्बंध का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि उन्हीं बाह्य पदार्थों में मन की गति हो सकती है जिन्हें इन्द्रियों द्वारा जाना गया है । इन्द्रियों से दो वस्तुओं के कुछ ही दृष्टान्तों का प्रत्यक्ष होने परमन द्वारा उनके मध्य विद्यमान सार्वदेशिक, सार्वकालिक साहचर्य सम्बंध का प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता ।[2]

अनुमान के द्वारा भी व्याप्ति सम्बंध का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि अनुमान स्वयं व्याप्ति सम्बंध पर आश्रित होता है तथा उसके द्वारा व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान स्वीकार करने पर अन्योन्याश्रय दोष आता है । इस प्रकार अन्य किसी भी प्रमाण से व्याप्ति सम्बंध का ज्ञान नहीं हो सकता । इसलिये इसके ज्ञान

---

1. न्याय कुमुद चन्द्र, पृष्ठ-429

2. न्यायकुमुद चन्द्र पृष्ठ-431-32

के लिये तर्क नामक एक स्वतंत्र प्रमाण की सत्ता स्वीकार करनी आवश्यक है ।[1]

तर्क को व्याप्ति सम्बंध के ज्ञान के लिये एक स्वतंत्र प्रमाण माना जाये अथवा उसका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा ही स्वीकार कर लिया जाये, दोनों ही स्थितियों में यह समस्या समान रूप से रहती है कि दो पदार्थों के कुछ दृष्टान्तों के ज्ञान पूर्वक उनके समस्त दृष्टान्तों के सम्बंध में कोई नियम किस प्रकार बनाया जा सकता है । यह ठीक है कि अब तक हमें अग्नि के सद्भाव में ही धूम की उपलब्धि हुई है, उसके अभाव में नहीं, लेकिन इस सम्भावना से किस प्रकार इंकार किया जा सकता है कि कभी अग्नि के अभाव में भी धूम की उपलब्धि हो सकती है । धूम का अग्नि से अविनाभाव अर्थात् धूम का अग्नि के अभाव में नहीं ही पाया जाना - यह ज्ञान धूम और अग्नि के कुछ अन्वयव्यतिरेकी दृष्टान्तों के प्रत्यक्ष मात्र से किस प्रकार हो सकता है ?

जैसा कि ह्यूम का कहना है हमारे मन की यह आदत है कि जिन दो पदार्थों की हमें कई बार साथ-साथ उपलब्धि होती है उनमें वह सार्वभौमिक साहचर्य सम्बंध की कल्पना कर लेता है तथा एक की उपलब्धि होने पर दूसरे का अनुमान कर लेता है । हमें कभी भी उनके मध्य किसी अनिवार्य सम्बंध का, जिसके फलस्वरूप एक के नहीं होने पर दूसरा भी अनिवार्यतः नहीं ही हो, ज्ञान नहीं होता, तर्क को एक स्वतंत्र प्रमाण मान लेने पर भी इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता ।

वास्तव में त्रैकालिक सम्बंधों का, नियमों का बोध मतिज्ञान का विषय नहीहै । मतिज्ञान द्वारा मात्र पृथक-पृथक तथा वर्तमानकालीन घटनाओं को ही माना जा सकता है तथा पूर्णरूपेण मतिज्ञान पर आधारित तर्क में भी यह सामर्थ्य नहीं हो सकती कि वह त्रैकालिक सम्बन्धों और नियमों को जान सके ।[2]

----

1. न्याय कुमुद चन्द्र पृष्ठ-433
2. ~~परीक्षा मुखसूत्र-- 3/10~~

अनुमान :-

अनुमान शब्द अनु-पीछे तथा मान-ज्ञान पदों के योग से बना है तथा इसका शाब्दिक अर्थ है-एक ज्ञान के पश्चात् होने वाला दूसरा ज्ञान । इसकी परिभाषा दी गयी है, " साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहा जाता है ।"[1] साध्य के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित हो अर्थात् जो साध्य के बिना न हो, उसे "हेतु" (साधन) कहते हैं ।[2] हेतु वही हो सकता है जो साध्य के सद्भाव में ही हो उसके अभाव में कभी नहीं हो । जिस व्यक्ति को हेतु और साध्य के मध्य व्याप्ति सम्बंध का ज्ञान होता है वही हेतु को प्रत्यक्ष, अनुमानादि किसी प्रमाण से जानने पर उसका साध्य से व्याप्ति सम्बंध के स्मरणपूर्वक साध्य का अनुमान करता है । उदाहरण के लिये किसी स्थान पर धुँआ का प्रत्यक्ष होने पर व्यक्ति को यह स्मरण होता है कि धुँआ वहीं होता है जहाँ आग होती है । धूम का अग्नि से अविनाभाव के आधार पर वह अग्नि का अनुमान करता है । यह अनुमान वही व्यक्ति कर सकता है जिसने पूर्व में धूम और अग्नि के व्याप्ति सम्बंध को ग्रहण किया हो ।

हेतु का स्वरूप :- बौद्धों के अनुसार सद्हेतु में पक्षसत्त्व, सपक्ष सत्त्व और विपक्षाद्व्यावृत्ति ये तीन विशेषताएँ होनी अनिवार्य हैं । नैयायिक इनमें अबाधित विषयत्व तथा असत्प्रतिपक्ष ये दो विशेषताएँ और जोड़ते हैं । जैन दार्शनिकों के अनुसार हेतु का लक्षण उसका साध्य से अविनाभाव मात्र है । "अविनाभाव" का अर्थ है साध्य के बिना साधन का नहीं ही पाया जाना । यह अविनाभाव तथोपपत्ति और अन्यथाअनुपपत्ति रूप होता है ।[3] तथोपपत्ति का अर्थ है - साध्य के होने पर ही साधन होता है, तथा इसी का दूसरा रूप

---

1. परीक्षा मुख सूत्र 3/10
2. परीक्षा मुख सूत्र 3/11
3. न्याय कुमुद चन्द्र, पृष्ठ-423

अन्यथाअनुपपत्ति "साध्य के अभाव में साधन की सत्ता नहीं होती" रूप होती है । जैन दार्शनिक कहते हैं कि हेतु का साध्य से अविनाभाव सम्बंध होने पर अन्य विशेषताओं का अभाव होने पर भी अनुमान सम्भव है तथा इसके अभाव में अन्य सभी विशेषताओं का सद्भाव भी अकिंचित्कर है । अनेक हेतु ऐसे हैं जो पक्ष में नहीं पाये जाते, फिर भी अपने अविनाभावी साध्य का अनुमान कराते हैं । जैसे "रोहिणी नक्षत्र एक मुहूर्त के बाद उदित होगा क्योंकि इस समय कृतिका का उदय है ।" यहाँ कृतिका के उदय और एक मुहूर्तवाद उदित होने वाले रोहिणी के उदय में अविनाभाव है, वह अवश्य ही उदित होगा, परन्तु कृतिका का उदय रोहिणी नामक पक्ष में नहीं पाया जाता । सपक्ष सत्व भी हेतु के लिये अनिवार्य नहीं है क्योंकि सपक्ष में रहने या नहीं रहने से हेतु की हेतुता में कोई अंतर नहीं पडता । "सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं, सत् होने से "जैसे समस्त पदार्थों में किसी धर्म की सत्ता सिद्ध करने वाले अनुमान में सपक्ष की सत्ता नहीं होने पर भी हेतु साध्य का गमक होता है ।पक्षधर्मत्वादि तीनों विशेषताओं के होने पर भी अन्यथाअनुपपत्ति के अभाव में हेतु के गमकपन नहीं देखा जाता । उदाहरण के लिये देवदत्त का गर्भस्थ पुत्र साँवला है क्योंकि वह उसका पुत्र है, उसके अन्य पुत्रों के समान । यहाँ पर देवदत्तका गर्भस्थ पुत्र पक्ष है जिसमें साँवलापन सिद्ध किया जा रहा है । सपक्ष देवदत्तके अन्य पुत्र है तथा हेतु देवदत्त का पुत्र होना है । जो जो देवदत्तका पुत्र है वह वह काला है तथा जो काला नहीं है वह देवदत्तका पुत्र नहीं है इस प्रकार हेतु में विपक्षाद्व्यावृत्ति भी है । इन तीनों का सद्भाव होने पर भी हेतु का साध्य से अन्यथाअनुपपत्ति नहीं होने के कारण यह हेतु सम्यक् हेतु नहीं हो सकता । देवदत्त के विद्यमान समस्त पुत्रों के काला होने के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि देवदत्तका पुत्र

गौरा हो ही नहीं सकता । इन तीन विशेषताओं के अतिरिक्त नैयायिकों द्वारा मानी गयी दो और विशेषताएँ अबाधित विषयत्व और असत्प्रतिपक्ष अविनाभाव के ही विस्तार हैं । जिस हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव है वह न तो किसी अन्य प्रमाण से बाधित ही हो सकता है और न ही उसका प्रतिपक्षी हेतु सम्भव है । हेतु का लक्षण "हेतु का साध्य के अभाव में नहीं ही पाया जाना "रूप अन्यथाअनुपपत्ति ही हो सकता है तथा असी आधार पर हेतु के द्वारा साध्य का ज्ञान होता है ।[1]

साध्य का स्वरूप - साध्य दृष्ट, अबाधित और असिद्ध होता है ।[2] जो पदार्थ अभी तक अनिर्णीत है अथवा जिसके प्रति संशय या विपर्यय है उसे ही अनुमान द्वारा जानने के लिये प्रवृत्ति होती है । यह पदार्थ प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अविरुद्ध होने पर ही अनुमान का विषय हो सकता है ।

अनुमान के अवयव -

जैन दार्शनिकों के अनुसार अनुमान के दो अनिवार्य और पर्याप्त अवयव हैं प्रतिज्ञा वाक्यऔर हेतु वाक्य ।[3] प्रतिज्ञा वाक्य में पक्ष में साध्य की सत्ता बतायी जाती है तथा हेतु वाक्य में उसकी सिद्धि के लिये हेतु प्रस्तुत किया जाता है । पक्ष वह अधिकरण है जिसमें हेतु के द्वारा साध्य को सिद्ध किया जाता है । अनुमान का स्वरूप है - पर्वत पर अग्नि है । (प्रतिज्ञा) क्योंकि वहाँ धूम है (हेतु) एक विज्ञ व्यक्ति को इन दो वाक्यों के प्रयोग से ही अनुमान हो जाता है । जिस व्यक्ति ने हेतु का साध्य से अविनाभाव भली प्रकार निश्चित कर लिया है उस व्यक्ति को हेतु का ज्ञान होते ही उसका साध्य से व्याप्ति सम्बंध का स्मरण भी हो जाता है तथा इसके द्वारा साध्य ज्ञात हो जाता है ।

---

1. प्रमेय रत्न माला पृष्ठ-146
2. परीक्षा मुख सूत्र 3/16
3. प्रमेय रत्न माला, पृष्ठ-165

उसे साध्य को जानने के लिये उदाहरणादि के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। इसका कारण यह है कि उदाहरण साध्य का ज्ञान कराने में कारण नहीं है और न ही इसके द्वारा व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान होता है क्योंकि वह व्यक्ति रूप होता है, और व्याप्ति सर्वदेश काल की उपसंहार वाली होती है। जिसने साध्य के साथ अविनाभाव का ग्रहण कर लिया है ऐसे पुरूष को हेतु के ज्ञान मात्र से व्याप्ति की सिद्धि हो जायेगी और जिसने अविनाभाव सम्बन्ध को ग्रहण नहीं किया है उसे सैकड़ों दृष्टान्तों के प्रयोग से भी व्याप्ति का स्मरण नहीं होगा।[1] फिर भी एक मन्दबुद्धि व्यक्ति को अनुमान के लिये उदाहरण, उपनय और निगमन के प्रयोग की आवश्यकता हो सकती है, लेकिन इन्हें अनुमान मात्र के अवयव मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।[2]

अनुमान के प्रकार :- अनुमान के दो भेद किये गये हैं :- स्वार्थानुमान और परार्थानुमान[3] परोपदेश के बिना स्वयं को साधन से साध्य का ज्ञान स्वार्थानुमान कहलाता है।[4] स्वार्थानुमान के विषयभूत अर्थ का परामर्श करने वाले (विषय बनाने वाले) वचनों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे परार्थानुमान कहते हैं।[5]

श्रुतज्ञान

"श्रुत" शब्द का अर्थ है"सुना हुआ"। इस शाब्दिक अर्थ के अनुसार सुनकर होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। जैन दार्शनिक श्रुतज्ञान को इस सीमित अर्थ में परिभाषित न कर बहुत व्यापक अर्थ में परिभाषित करते हैं। उनके अनुसार श्रुत-ज्ञानावरणीय तथा वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर मतिज्ञान द्वारा

---

1. परीक्षा मुख सूत्र 3/42
2. प्रेमय रत्न माला पृष्ठ-167-68
3. परीक्षा मुख सूत्र 3/48-49
4. प्रमेय रत्न माला पृष्ठ-174
5. परीक्षा मुख सूत्र 3/51

जाने गये अर्थ का अवलम्बन लेकर उससे सम्बद्ध अर्थ का ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है।[1] श्रुतज्ञान मति ज्ञान पूर्वक होता है।[2] यह मानसिक[3] तथा तर्कणा रूप होता है।[4] जिस पदार्थ को पहले चक्षुरादि इन्द्रियाँ तथा मन का अवलम्बन लेकर जान लिया गया है, उस पदार्थ का अवलम्बन लेकर उससे सजातीय विजातीय अन्य पदार्थ को मात्र मन द्वारा परामर्श स्वभावतया ॥विचार पूर्वक॥ जानने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है।[5]

श्रुतज्ञान के धवला में दो भेद किये गये हैं- अर्थलिंगज श्रुतज्ञान तथा शब्द लिंगज श्रुतज्ञान[6] गोम्मटसार में इन्हें अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहा गया है। इनका अर्थ स्पष्ट करते हुए नेमीचन्द्र कहते हैं शब्द के प्रत्यक्ष के उपरान्त वाच्य वाचक सम्बन्ध के स्मरण पूर्वक उत्पन्न होने वाला अर्थ का ज्ञान अक्षरात्मक या शब्द लिंगज श्रुतज्ञान है। जैसे "जीव है" इन शब्दों का ज्ञान होने पर इनके वाच्य अर्थ जीव के अस्तित्व का ज्ञान अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। ॥वायु के शीत स्पर्श के ज्ञान के उपरान्त वात्त प्रकृति वाले व्यक्ति को होने वाला यह ज्ञान कि " यह मेरी प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है" अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहलाता है।[7]

पहले हम श्रुतज्ञान की सामान्य विशेषताओं का जैन आचार्यों के शब्दों में अध्ययन करेंगे, तत्पश्चात् यह देखने का प्रयास करेंगे कि ये विशेषताएँ शब्द लिंगज और अर्थ लिंगज श्रुतज्ञान में किस प्रकार अभिव्यक्त होती है।

---

1. गोम्मटसार-जीव काण्ड, पृष्ठ-523
2. तत्वार्थ सूत्र 1/20
3. तत्वार्थ सूत्र 2/21
4. तत्वार्थ सूत्र 9/43
5. तत्वार्थ श्लोक वार्तिक पृष्ठ-165
6. धवला पुस्तक-13 पृष्ठ - 245
7. गोम्मटसार जीव काण्ड, पृष्ठ - 523-24

श्रुतज्ञान की मति पूर्वकता :-

अकलंक श्रुतज्ञान की मतिपूर्वकता तथा मानसिकता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं :- इन्द्रिय तथा मन का अवलम्बन लेकर पहले जाने गये पदार्थ में मन की प्रधानता से होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। ईहादि को मन निमित्रक होने के कारण श्रुतज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनका विषय अवग्रहीत पदार्थ ही होता है, जबकि श्रुतज्ञान नवीनता लिये हुए होता है। एक घट को इन्द्रिय तथा मन के द्वारा " यह घट है", इस प्रकार निश्चित करने के उपरान्त जो पहले नहीं जाने गये तज्जातीय तथा देशकालादि की दृष्टि से विलक्षण अनेक घटों को जानता है वह श्रुतज्ञान है, अथवा एक अर्थ का अनेक प्रकार से प्ररूपण करना श्रुतज्ञान है। इन्द्रिय और मन के द्वारा जीवादि पदार्थों को जानकर उनका सत्, संख्या, क्षेत्र, अन्तर, काल, अल्पबहुत्वादि अनेक प्रकार से प्ररूपण करना श्रुतज्ञान है। अथवा श्रुतज्ञान इन्द्रिय और मन द्वारा गृहीत अगृहीत पर्याय वाले शब्द और उनके वाच्यार्थ जीवादि को श्रोत्रेन्द्रिय के व्यापार के बिना विभिन्न नयों के द्वारा जानता है।[1]

श्रुतज्ञान श्रुत पूर्वक भी होता है, लेकिन परम्परागत रूप से वह भी मतिज्ञान पर आधारित है। अकलंक कहते हैं कि घट शब्द को सुनकर पहले घट अर्थ का ज्ञान तथा उस श्रुत से जलधारणादि कार्यों का जो द्वितीय श्रुतज्ञान होता है वह श्रुत पूर्वक श्रुतज्ञान है। यहाँ प्रथम श्रुतज्ञान के मतिपूर्वक होने से द्वितीय श्रुतज्ञान में भी मतिपूर्वकत्व का उपचार कर लिया जाता है, अथवा पूर्व शब्द व्यवहित पूर्व को भी कहता है, तथा साक्षात् या परम्परया मति पूर्वक उत्पन्न होने वाले ज्ञान श्रुतज्ञान कहे जाते हैं।[2]

---

1. तत्वार्थ वार्तिक पृष्ठ 48-49
2. तत्वार्थ वार्तिक, पृष्ठ-315

मतिज्ञान श्रुतज्ञान का आधार है। वही पदार्थ श्रुतज्ञान का विषय हो सकता है जिसे पहले मति ज्ञान द्वारा जान लिया गया है। कभी कोई ऐसा पदार्थ श्रुतज्ञान का विषय नहीं हो सकता जो व्यक्ति की मतिज्ञान की सीमा से पूर्णरूपेण परे हो। इन दोनों में कार्य कारण सम्बन्ध है तथा मतिज्ञान के अभाव में, मतिज्ञान की व्यापकता के अभाव में श्रुतज्ञान की सत्ता और व्यापकता असम्भव है। उमास्वामी कृत सूत्र "श्रुतं मति पूर्वं--" का अर्थ स्पष्ट करते हुए मलयगिरि कहते हैं कि जिसके द्वारा कार्य को प्राप्त किया जाता है, पूरित किया जाता है वह कारण उस कार्य का पूर्व कहलाता है। श्रुतज्ञान मतिज्ञान के द्वारा प्राप्त किया जाता है, पूरित किया जाता है तथा मतिज्ञान की स्पष्टता के अभाव में श्रुतज्ञान का उत्तरोत्तर विकास दृष्टिगोचर नहीं होता। जिसके उत्कर्ष अपकर्ष पर जिसका उत्कर्ष अपकर्ष आश्रित हो वह उसका कारण कहलाता है तथा कार्य तत्पूर्वक होता है। जिस प्रकार घट मृतिका पूर्वक होता है। अत: उसकी उत्कृष्टता अपकृष्टता मृतिका की उत्कृष्टता अपकृष्टता पर निर्भर करती है उसी प्रकार श्रुतज्ञान की उत्कृष्टता अपकृष्टता के मतिज्ञान की उत्कृष्टता अपकृष्टता पर आश्रित होने के कारण श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है।[1]

? सूत्र सही करें

श्रुतज्ञान की मानसिकता :-

श्रुतज्ञान मात्र अन्तरिन्द्रिय-मन का अवलम्बन लेकर उत्पन्न होने वाला ज्ञान है। जैन दार्शनिकों के अनुसार मतिश्रुतज्ञान का अस्तित्व प्राणी मात्र में होता है। मन सहित प्राणियों, विशेषत: मनुष्यों में तो इसका अस्तित्व सर्वमान्य ही है, लेकिन एकेन्द्रिय द्वीन्द्रियादि मनरहित प्राणियों में भी इसका अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। उनमें इसका अस्तित्व आहार चेतना :- यह पदार्थ भक्षण योग्य है, भय चेतना - यह पदार्थ घातक है, परिग्रह चेतना यह पदार्थ संग्रहणीय है, तथा मैथुन चेतना के रूप में होता है।

---

1. नन्दी सूत्र मलयगिरि वृत्ति, पृष्ठ-263-264

प्रश्न उठता है कि जब श्रुतज्ञान मनोजन्य ही होता है तो मन रहित एकेन्द्रियादि प्राणियों में इसका अस्तित्व किस प्रकार हो सकता है? इसका उत्तर देते हुए वीरसेन कहते हैं कि वहाँ जाति विशेष के कारण लिंग लिंगी विषयक ज्ञान मानने में कोई विरोध नहीं आता।[1] मलयगिरि कहते हैं कि हेतुपदेश श्रुतज्ञान समनस्कों को ही होता है। जिसके द्वारा अपने शरीर की रक्षार्थ इष्ट आहारादि में प्रवर्तन होता है तथा अनिष्ट पदार्थों में निवर्तन होता है उसे हेतुपदेश कहा गया गया है। यह इष्ट अनिष्ट पदार्थों में प्रवृत्ति निवृत्ति चिन्तनात्मक है और यह मन के व्यापार के अभाव में सम्भव नहीं है। अतः द्वि-इन्द्रियादि प्राणियों में मन पूर्वक यह हेतुपदेश श्रुतजान दृष्टिगोचर होता है। उनमें हेतुपदेश श्रुतज्ञान ही हो सकता है, कालिक्युपदेश श्रुतज्ञान नहीं क्योंकि वे वर्तमान कालीन पदार्थ के संबंध में ही चिन्तन कर सकते हैं, भूत भविष्यकालीन पदार्थों के सम्बन्ध में नहीं।[2]

नन्दी सूत्र तथा अन्य ग्रन्थों में श्रुतज्ञान के अनेक भेद किये गये हैं जिनके विस्तार में न जाकर हम यहाँ इतना ही कहेंगे कि मन का विशेष कार्य स्मरण, शिक्षा, तर्कणा आदि हैं। जिन पंचेन्द्रिय प्राणियों में शिक्षित हो सकने, तर्कणा का अवलम्बन लेकर स्थितियों को परिवर्तित कर सकने की क्षमता होती है उन्हें समनस्क कहा जाता है। यह क्षमता पंचेन्द्रिय पशुओं में न्यून मात्रा में तथा मनुष्यों में बहुत अधिक मात्रा में पायी जाती है। चतुरिन्द्रियादि प्राणी अपनी कुछ जन्मजात प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर कार्य करते हैं तथा उन्हें शिक्षित करके उनके कार्य करने की विधियों में परिवर्तन किया जाना सम्भव नहीं है। न ही उनमें यह सामर्थ्य है कि वे उन जन्मजात प्रवृत्तियों के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में गुण-दोषों के विचार पूर्वक अथवा अनुभव द्वारा अन्वेषण पूर्वक नवीन जानकारी प्राप्त कर सकें और अपने कार्य करने के ढंग को परिवर्तित कर सकें। इतना होते हुए भी उनमें न्युनाधिक मात्रा में तर्कणा शक्ति होती है, जिसकी सिद्धि खाद्य पदार्थ के इन्द्रिय प्रत्यक्ष पूर्वक उसे

---

1. धवला, पुस्तक-13, पृष्ठ-210
2. नन्दी सूत्र, मलयगिरि टीका, पृष्ठ-384

प्राप्त करने हेतु प्रवृत्ति, घातक स्थिति के निर्मित होने पर रक्षार्थ प्रवृत्ति आदि से होती है। इन क्रियाओं का सद्भाव तर्कणा पूर्वक ही हो सकता है जो आत्मा में मनोइन्द्रियज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम, भले ही वह बहुत अल्प मात्रा में हो, होने पर ही सम्भव है।

श्रुतज्ञान और भाषा :-

श्रुतज्ञान मानसिक चिन्तन रूप होता है तथा इसकी उत्पत्ति शब्द योजना पूर्वक ही होती है। मति, अवधि, मन: पर्यय तथा केवलज्ञान शब्द योजना रहित ज्ञान हैं। यह सम्भव है कि हम विषय का इन्द्रिय से प्रत्यक्ष करते समय उसके वाचक शब्द का भी प्रयोग करें, लेकिन वहाँ विषय बोध की उत्पत्ति में शब्द प्रयोग का होना न होना कोई महत्व नहीं रखता, जबकि श्रुतज्ञान का विषय शब्दात्मक चिन्तन द्वारा ही ज्ञात होता है। अकलंक कहते हैं, "मति स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान शब्द योजना से पूर्व मतिज्ञान के अन्तर्गत आते हैं तथा शब्द योजना के पश्चात् वे श्रुतज्ञान कहलाते हैं।[1] अकलंक की यह मान्यता उचित प्रतीत नहीं होती। किसी इन्द्रिय से पदार्थ का ज्ञान होतेसमय उसके वाचक शब्द के प्रयोग मात्र से उस ज्ञान को श्रुतज्ञान नहीं कहा जा सकता। त्वचा से शीतल पवन के स्पर्श पूर्वक उसका ज्ञान होते समय " यह पवन शीतल है" इस शब्दात्मक निर्णय मात्र से पवन की शीतलता का ज्ञान श्रुतज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पवन की शीतलता मन से शब्द प्रयोग पूर्वक ज्ञात न होकर त्वचा द्वारा ज्ञात हो रही है। इसलिये मन द्वारा इसके प्रति शब्द प्रयोग किये जाने अथवा न किये जाने दोनों ही स्थितियों में यह ज्ञान मतिज्ञान है। वास्तव में "श्रुतज्ञान ही शब्द योजना सहित है तथा शेष ज्ञान शब्द योजना रहित होते हैं" इस कथन का मात्र यही आशय हो सकता है कि शब्द योजना श्रुतज्ञान की अनिवार्य विशेषता है। इसके विपरीत शेष ज्ञानों का लक्षण विषय के साक्षात्कार से उत्पन्न होना है तथा शब्द योजना इसकी उत्पत्ति में कारण नहीं है।

---

1. ~~लधीयस्त्रय~~, श्लोक - 10
लघीयस्त्रय

विधानन्दि अकलंक के उपर्युक्त कथन को उद्धृत करते हुए कहते हैं, "अकलंक देव के द्वारा जो यह कहा गया है कि मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध पर्यन्त समस्त ज्ञान शब्द योजना से पूर्व मतिज्ञान तथा शब्द योजना के पश्चात् श्रुतज्ञान कहलाते हैं, यहाँ यह विचार करना है कि मतिज्ञान से अनुमान पर्यन्त समस्त ज्ञान ही शब्द योजना पूर्वक श्रुत होता है अथवा श्रुतज्ञान ही शब्द योजना पूर्वक होता है। यदि यह नियम स्वीकार किया जाय कि शब्द योजना पूर्वक होने वाला ज्ञान ही श्रुतज्ञान कहला सकेगा तो चक्षुरादि मतिज्ञान पूर्वक होने वाले ज्ञान को श्रुतज्ञान नहीं कहे जा सकने के कारण सिद्धान्त विरोध होगा।[1]

आचार्य विधानन्दि की उपर्युक्त मान्यता भी आपत्तिजनक है। चक्षुरादि मतिज्ञानपूर्वक होने वाले श्रुतज्ञान को शब्द योजना रहित नहीं कहा जा सकता। यद्यपि चक्षुरादिमतिज्ञान शब्द संसर्ग रहित होते हैं तथापि उनसे उत्पन्न होने वाला श्रुतज्ञान शब्द योजना सहित ही होता है, क्योंकि वह तर्कणा रूप होता है तथा तर्कणा या चिन्तन शब्दात्मक ही हो सकता है। समस्त श्रुतज्ञान, भले ही वह शब्द लिंगज हो अथवा अर्थलिंगज, शब्दात्मक ही होता है। स्वयं विधानन्दि भी आगे समस्त श्रुतज्ञान को शब्द योजना पूर्वक ही स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं, "समस्त श्रुतज्ञान शब्द योजना सहित ही होता है। एकेन्द्रिय जीवों में भी लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान होता है; वह द्रव्यवाक् रूप न होते हुए भी भाववाक् रूप होता है।[2] मलयगिरि कहते हैं कि एकेन्द्रिय जीवों में श्रोत्रेन्द्रिय का अभाव होने के कारण उनमें परोपदेश निमित्तक श्रुतज्ञान सम्भव नहीं है। उनमें लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान होता है जो आहारादि संज्ञा के रूप में होता है। यह संज्ञा अभिलाषा रूप "मुझे यह प्राप्त हो" होती है जो भाषा का अवलम्बन किये हुए ही होती है। अतः उसमें भी अव्यक्त लब्ध्यक्षर की योग्यता है जो लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान को भी अक्षरात्मक सिद्ध करती है।[3]

---

1. तत्वार्थ श्लोक वार्तिक, पृष्ठ-239-40
2. तत्वार्थ श्लोक वार्तिक, पृष्ठ-241
3. नन्दी सूत्र-मलयागिरि टीका, पृष्ठ-378

श्रुतज्ञान की स्याद्वादनय संस्कृतता :-

श्रुतज्ञान की उत्पत्ति भाषा के अवलम्बन पूर्वक होती है। शब्दों के द्वारा जिस विषय को जाना जाता है, वह अनेकान्तात्मक स्वरूप से युक्त होती है तथा उसके स्वरूप का यथार्थ ग्रहण स्याद्वाद के द्वारा ही किया जा सकता है। स्याद्वाद की आवश्यकता को समझने के लिये हम अनेकान्त के स्वरूप पर विचार करें।

अनेकान्त शब्द अनेक + अन्त (धर्म) पदों के योग से निर्मित हुआ है तथा इसका शाब्दिक अर्थ है - एक वस्तु की अनेक धर्मात्मकता। जैन दार्शनिक इस पद का दो विशिष्ट अर्थों में प्रयोग करते हैं " (1) वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता ही अनेकान्त है, (2) जो वस्तु सत् है वही असत् भी है, जो एक है वही अनेक भी है, जो नित्य है वही अनित्य भी है, इस प्रकार एक ही वस्तु में वस्तुत्व के निष्पादक सप्रतिपक्षी धर्म युगलों का युगपत् सद्भाव अनेकान्त है।[1] वस्तु का अनन्त धर्मात्मक स्वरूप इन धर्म युगलों में व्यवस्थित होकर ही निष्पादित होता है। एक द्रव्य अनेक सामान्य, शाश्वत और अन्य निरपेक्ष विशेषताओं से युक्त होता है जिन्हें गुण कहा जाता है। उसका यह स्वरूप सामान्य रूप से सदैव अपरिवर्तित होते हुए भी निरन्तर अपनी आन्तरिक योग्यता तथा बाह्य कारणों के सद्भाव के अनुसार एक विशेष पर्याय से नष्ट होता हुआ तथा दूसरी विशेष पर्याय से उत्पन्न होता हुआ सदैव अस्तित्व रखता है। एक विशेष पर्याय से युक्त होने पर वस्तु अनेक अन्य सापेक्ष धर्म भी रखती है जिनका उन पदार्थों की अपेक्षा से ही सद्भाव होता है तथा अन्यथा अभाव भी होता है। उदाहरण के लिये जल पुद्गल की एक विशेष पर्याय है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श गुण युक्त पुद्गल एक विशेष रूप से परिणत होकर इस अवस्था को प्राप्त करता है। इस पर्याय से युक्त होने पर पुद्गल में स्वस्थ व्यक्ति के प्यासे होने पर उसमें तृप्ति और शीतलता की उत्पत्ति की क्षमता होती है, जबकि एक रोग विशेष में यह जलन भी उत्पन्न करता है। द्रव्य

---

1. समय सार - पृष्ठ - 572

का यह गुण-पर्यायात्मक स्वरूप एक-अनेक, भेद-अभेद, सामान्य-विशेष, नित्य-अनित्य आदि द्वन्द्वात्मक कोटियों में व्यवस्थित होकर ही अस्तित्व रख सकता है। वस्तु का इन द्वन्द्वात्मक कोटियों में व्यवस्थित होकर ही अस्तित्व रख सकना ही उसका अनेकान्तात्मक स्वरूप है। मात्र सामान्य अथवा मात्र विशेष का निषेध कर, मात्र नित्य अथवा मात्र अनित्य का निषेध कर वस्तु को परस्पर पृथक-पृथक सामान्य विशेष, नित्य अनित्य स्वरूप स्वीकार करना अनेकान्तवाद नहीं है अपितु सर्वथा सामान्य और सर्वथा विशेष से विजातीय कथंचित् सामान्य-विशेष उभय-रूप जात्यन्तर स्वरूप को स्वीकार करना अनेकान्तवाद है। इसका आशय यह है कि वस्तु के ये धर्म परस्पर पूर्णतया भिन्न-भिन्न न होकर कथंचित् सापेक्ष-निरपेक्ष स्वरूप से युक्त, कथंचित् भेद-अभेद स्वरूप से युक्त हैं। जो वस्तु का सामान्य रूप से नित्य स्वरूप है वही उसका विशेष रूप से परिवर्तनशील स्वरूप है। ये इस अपेक्षा से अभिन्न होते हुए भी संज्ञा, लक्षणादि की अपेक्षा भिन्न हैं। साथ ही वस्तु के ये दोनों पक्ष अस्तित्व की अपेक्षा परस्पर सापेक्ष तथा स्वरूप की अपेक्षा परस्पर निरपेक्ष हैं। वस्तु के भेद-अभेद उभय रूप, एक-अनेक उभय रूप जात्यन्तर स्वरूप की चर्चा हम प्रथम अध्याय में द्रव्य और गुण के सम्बन्ध पर विचार करते समय तथा उसके सामान्य - विशेषात्मक स्वरूप की चर्चा चौथे अध्याय में कर चुके हैं ।

अनेकान्तात्मक अर्थ का सामान्य भाषा के द्वारा प्रतिपादन किये जाने पर सामान्य भाषा की कई सीमाओं के कारण अनेक भ्रम उत्पन्न हो सकते हैं। भाषा की सार्थक इकाई वाक्य है। अर्थ बोध के लिये एक वाक्य का उद्देश्य विधेय रूप से संयोजित होना पर्याप्त माना जाता है। एक वाक्य विधिनिषेधात्मक स्वरूप लिये हुए होता है। वाक्य में उद्देश्य के प्रति किया गया कोई भी विधान उसके विरोधी रूप का निषेध कर देता है। उदाहरण के लिये इस वाक्य "द्रव्य नित्य है" में द्रव्य की अनित्यता का पूर्ण रूप से निषेध निहित है। भाषा का यह स्वरूप यह भ्रम उत्पन्न करता है कि वस्तु सर्वथा एक रूप ही है, वह सर्वथा नित्य ही है अथवा अनित्य ही है, सामान्य रूप ही है अथवा विशेष रूप ही है।

भाषा की दूसरी सीमा है कि उसके द्वारा एक पदार्थ के सम्पूर्ण स्वरूप को एक साथ ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसके द्वारा एक वस्तु की जटिल संरचना का ग्रहण एक-एक वाक्य द्वारा उसकी एक-एक विशेषता का क्रमिक रूप से प्रतिपादन करते हुए ही किया जा सकता है। एक वाक्य इस कार्य को अन्य-निरपेक्ष रूप से करता है जो यह भ्रम उत्पन्न कर सकता है कि वर्णित विशेषता वस्तु में अन्य विशेषताओं से निरपेक्ष रूप से अस्तित्व रखती है। साथ ही एक वस्तु की कुछ ही विशेषताओं को जानकर व्यक्ति उसके प्रति अपने ज्ञान को पर्याप्त मान सकता है अथवा सम्पूर्ण विशेषताओं को क्रमिक रूप से जानकर भी व्यक्ति को यह भ्रम हो सकता है कि एक वस्तु अनेक विशेषताओं का समूह मात्र है। व्यक्ति का शब्दात्मक ज्ञान विषय को स्याद्वादनय संस्कृत रूप से ग्रहण करने पर ही निर्भ्रान्त हो सकता है।

स्याद्वाद अनेकान्तात्मक अर्थ की कथन पद्धति है।[1] इसके अनुसार प्रत्येक कथन एक नय है तथा उसके पूर्व स्यात् पद होना अनिवार्य है। "स्यात्" को परिभाषित करते हुए अमृतचन्द्र कहते हैं, "स्यात् एक अव्यय पद है जो सर्वथात्व का निषेधक, अनेकान्त का द्योतक तथा कथंचित् अर्थ का प्रतिपादक है।"[2] समन्तभद्र कहते हैं, "वाक्यों में "स्यात्" अनेकान्त का द्योतक तथा गम्य अर्थ के प्रति विशेषण है।"[3] गम्य अर्थ के प्रति विशेषण का अर्थ स्पष्ट करते हुए अकलंक कहते हैं, " किसी वाक्य में प्रयुक्त स्यात् पद जाने जा रहे अर्थ के प्रति विशेषण के रूप में उसके अवयव का सूचक है।[4]

"कथंचित्" या " किसी अपेक्षा से" पद न तो व्यक्तिगत दृष्टिकोण का सूचक है और न ही यह वस्तु के अनिश्चित स्वरूप का सूचक है। अपितु यह पदार्थ के उस निश्चित विस्तार का सूचक है, उस विशेष अंश या पक्ष का सूचक है,जिसके प्रति

---

1. लघीयस्त्रय स्ववृत्ति श्लोक 62
2. पंचास्तिकाय संग्रह : पृष्ठ 32-33
3. आप्त मीमांसा गाथा पृष्ठ 103 पूर्वार्द्ध
4. अष्ट सहस्त्री, पृष्ठ-286

ही किया गया विधान सत्य है। दूसरे शब्दों में यह उद्देश्य पद को सीमित या विशिष्ट करने का कार्य करता है। वस्तु की किसी विशेषता का वर्णन करते समय उसके विस्तार को स्पष्ट करना इसलिये आवश्यक है कि एक वस्तु अनन्तधर्मात्मक तथा जटिल संरचना से युक्त है। उसके अनेक पक्ष हैं तथा भिन्न-भिन्न पक्षों से वह भिन्न-भिन्न स्वरूप लिये हुए है। "वस्तु का स्वरूप अन्य निरपेक्ष तथा अपरिवर्तित है", यह कथन सर्वथा सत्य न होकर वस्तु के सामान्य पक्ष की अपेक्षा ही सत्य है। विशेष पक्ष की अपेक्षा से वस्तु प्रतिक्षण परिवर्तनशील तथा स्वपरसापेक्ष स्वरूप से युक्त भी है। वस्तु के अनेकान्तात्मक स्वरूप के कारण उसके प्रति कोई भी कथन सर्वथा सत्य न होकर एक निश्चित अपेक्षा से ही सत्य होता है। यदि वाक्य में उस अपेक्षा को स्पष्ट कर दिया जाय तो गम्य अर्थ के प्रति विशेषण के रूप में स्यात् पद के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। "स्यात्" गम्य अर्थ के प्रति विशेषण होने के साथ ही उसके अनेकान्तात्मक स्वरूप का द्योतक भी है। यह इस बात की ओर संकेत करता है कि वस्तु में वर्णित धर्म के अतिरिक्त धर्म भी हैं जिनका अस्तित्व होने पर ही वर्णित धर्म का अस्तित्व हो सकता है। वास्तव में स्याद्वाद सामान्य रूप से अनेकान्त का वाचक है। इसके द्वारा सामान्य रूप से वस्तु के अनेकान्तात्मक स्वरूप को जान लेने मात्र से यह ज्ञात नहीं होता कि वस्तु में कौन-कौन से विशेष धर्म हैं, इसलिये समन्तभद्र के शब्दों में "स्याद्वाद नैगम आदि नयों तथा सप्तभंगी नयों के द्वारा क्रमिक रूप से एक धर्म को मुख्यता से लेते हुए तथा अन्य धर्मों को गौण करते हुए वस्तु के अनेकान्तात्मक स्वरूप का वर्णन करता है।"[1] अमृतचन्द्र इसकी विधि को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, " जिस प्रकार दधि मन्थन करने वाली गोपी मथाने की रस्सी के एक छोर को खींचती है तथा दूसरे को ढीला छोड़ देती है तथा रस्सी के आकर्षण और शिथिलीकरण द्वारा दधि का मन्थन कर इष्ट तत्त्व घृत को प्राप्त करती है उसी प्रकार स्याद्वाद नीति भी एक धर्म के आकर्षण और अन्य धर्म के शिथिलीकरण द्वारा अनेकान्तात्मक अर्थ की सिद्धि करती है।[2]

---

1. आप्त मीमांसा, गाथा-104 उत्तरार्द्ध
2. पुरूषार्थ सिद्धि उपाय, गाथा - 225

श्रुतज्ञान नयात्मक होता है। नय को परिभाषित करते हुए अकलंक कहते हैं "प्रमाण के द्वारा प्रकाशित अर्थ के एक विशेष अंश का व्यंजक (प्ररूपक ज्ञान) नय है।[1] प्रमाण सकलादेशी होता है तथा नय विकलादेशी होता है।[2] प्रमाण का विषय समग्र अर्थ तथा नय का विषय उसका एकांश होता है। यहाँ प्रमाण को सकलादेशी कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि प्रमाण का विषय सम्पूर्ण अर्थ अर्थात् वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं अपितु यहाँ समग्र से तात्पर्य यह है कि वस्तु की जिस विशेषता को जाना जा रहा है उसकी अविनाभावी समस्त विशेषताओं को ग्रहण किया जाय अथवा वस्तु को जिस स्तर पर जाना जा रहा है, उस स्तर पर उसकी परस्पर सापेक्ष रूप से विद्यमान समस्त विशेषताओं को जाना जाय। उदाहरण के लिये वस्तु के नित्य और अनित्य धर्म परस्पर अविनाभावी हैं, अतः इन दोनों का ज्ञान होने पर हमारा ज्ञान सकलादेशी-प्रमाण ज्ञान है तथा इनमें से एक का ग्रहण विकलादेशी-नय ज्ञान है। एक नय वस्तु के आंशिक स्वरूप का ज्ञान होने के कारण स्वयं पूर्ण सत्य न होकर प्रमाणांश-सत्यांश होता है। वह वस्तु के जिस अंश का ग्रहण कर रहा है वह अंश अन्य अंशों से सापेक्ष रूप से ही अस्तित्व रखता है, इसलिये उसे ग्रहण करने वाला नय भी नयान्तर सापेक्ष रूप से ही सम्यक् हो सकता है तथा नयान्तर निरपेक्ष होने पर वह मिथ्या है।

जिस वस्तु का प्रमाण के द्वारा ग्रहण कर लिया गया है, उसके एक अंश को परीक्षा पूर्वक अर्थात् अच्छी तरह से विचार करके ग्रहण करने वाला ज्ञाता का अभिप्राय नय है।[3] इसके द्वारा युक्ति पूर्वक अर्थात् प्रमाण सिद्ध रूप से वस्तु का ग्रहण किया जाता है।[4] प्रश्न उठता है कि जिस वस्तु को प्रमाण के द्वारा जान लिया गया है, उसे नय से जानने की क्या जरूरत है? प्रमाण से समग्र वस्तु का ग्रहण होता है, इसलिये उसके एक अंश का ग्रहण भी हो ही जाता है, क्योंकि अंशों की सिद्धि के अभाव में समुदाय की सिद्धि नहीं होती? इसके उत्तर में अनन्तवीर्य कहते हैं, "ज्ञाता के द्वारा साक्षात्कार किये गये अर्थ में

---

1. तत्वार्थ वार्तिक पृष्ठ - 94
2. तत्वार्थ वार्तिक पृष्ठ - 33
3. सिद्धि विनिश्चय 10/3
4. लघीयस्त्रय कारिका - 52

(अभिहित अर्थात् वर्णन किये गये और अनुमित अर्थ में भी) किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न होने पर वस्तु के पुनः उहापोहात्मक चिन्तन के अभाव में भ्रम का निवारण नहीं होता, इसलिये आन्तरिक बाह्य सभी पदार्थों के प्रति नय का अनुष्ठान किया जाता है। इस विचार विमर्शात्मक अभिप्राय के अभाव में इष्ट तत्व भी अनिष्ट के समान ही प्रतीत होता है। यदि कहा जाय कि इस अतिप्रसंग का निवारण प्रत्यक्ष के द्वारा ही कर लिया जाय तो यह उचित नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा दृष्ट पदार्थ परीक्षित अपरीक्षित दोनों स्थितियों में समान होता है।[1]

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। नय की प्रवृत्ति मतिज्ञान द्वारा जाने गये पदार्थ में किसी प्रकार की समस्या उत्पन्न होने पर अथवा उसके अगृहीत पक्षों को जानने के लिये होती है। उदाहरण के लिये मतिज्ञान द्वारा जाने गये जीवादि पदार्थों के प्रति "यह नित्य है अथवा अनित्य" इस प्रकार की शंका होने पर विचार विमर्शात्मक नय की प्रवृत्ति होती है तथा इसके द्वारा विभिन्न प्रमाणों को दृष्टि में रखते हुए वस्तु के स्वरूप के प्रति निश्चय किया जाता है। व्यक्ति का चिन्तनात्मक ज्ञान तभी यथार्थ हो सकता है जबकि वह वस्तु के जिस पक्ष को जानने के लिये प्रवृत्त हो रहा है उसे उस स्तर पर परस्पर अपरिहार्य रूप से विद्यमान सभी विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए जाने ।

अतः नय की परिभाषा "प्रमाण द्वारा प्रकाशित पदार्थ के एक धर्म को जानने वाला ज्ञाता का अभिप्राय नय है" में "प्रमाण द्वारा प्रकाशित पदार्थ" अंश मति आदि समस्त प्रमाणों की ओर संकेत करने के साथ ही साथ विशेष रूप से श्रुत प्रमाण की ओर संकेत कर रहा है। इस संदर्भ में नय की दो परिभाषाएं द्रष्टव्य हैं। समन्तभद्र कहते हैं, "स्याद्वाद द्वारा प्रविभक्त अर्थ (अनुमित, ज्ञापित् अनेकान्तात्मक अर्थ) के एक विशेष अंश का व्यंजक नय कहलाता है।"[2] अकलंक कहते हैं, " श्रुत प्रमाण से अनेकान्तात्मक अर्थ को

---

1. सिद्धि विनिश्चय टीका, पृष्ठ-667
2. आप्त मीमांसा, गाथा - 106 उत्तरार्द्ध

जानकर व्यवहार में प्रयोजन की सिद्धि हेतु उसके एक-एक धर्म को विशेष रूप से निरूपित करने वाले ज्ञाता के अभिप्राय नय हैं।"[1]

नय श्रुत प्रमाण का अंश होते हैं तथा इनकी उत्पत्ति भी श्रुत प्रमाण से ही होती है। श्रुत प्रमाण से वस्तु के अनेकान्तात्मक स्वरूप-परस्पर सापेक्ष सभी धर्मों को जानने के उपरान्त ही उसके एक धर्म के विशिष्ट स्वरूप का यथार्थ बोध सम्भव है। यद्यपि एक नय का विषय वस्तु का एक धर्म ही होता है तथा हमारे लिये उस धर्म के स्वरूप को सम्यक् रूप से जानने का वही नय एक मात्र उपाय है तथापि वह धर्म एक विशिष्ट स्वरूप में अन्य धर्मों से सापेक्ष रूप से ही अवस्थित हो सकता है, इसलिये वस्तु की जिस विशेषता को जाना जा रहा है, उसे उस विशेषता के स्तर पर विद्यमान उसके सर्वांगीण स्वरूप को उस धर्म के पूरक अथवा अविनाभावी अन्य धर्मों को जानते हुए ही जाना जा सकता है। उदाहरण के लिये वस्तु के अनित्य पक्ष के विशिष्ट स्वरूप को उसके नित्यानित्यात्मक स्वरूप को जानते हुए ही जाना जा सकता है। यदि व्यक्ति उसके नित्य पक्ष को नहीं जानता या मानता अथवा नित्य और अनित्य पक्ष को परस्पर निरपेक्ष रूप से स्वीकार करता है तो उसका नित्य पक्ष के प्रति उत्पन्न हुआ विचार विमर्शात्मक निर्णय मिथ्या होगा। वस्तु का एक धर्म अपने विशिष्ट स्वरूप को अन्य धर्मों से सापेक्ष रूप से, उनमें अन्तर्व्याप्त होकर ही प्राप्त करता है। इसलिये नय द्वारा उसके विशिष्ट स्वरूप का निर्णय प्रमाण पूर्वक ही, वस्तु के अनेकान्तात्मक स्वरूप को जानते हुए ही होता है।

प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा जाने गये पदार्थ के प्रति किसी प्रकार की जिज्ञासा होने पर उसके जिस पक्ष को जानने के लिये श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति होती है उसे पदार्थ के उस स्तर पर विद्यमान सर्वांगीण स्वरूप को जानते हुए ही जाना जा सकता है। चिन्तन प्रारम्भ होते ही वस्तु का सर्वांगीण स्वरूप युगपत् स्पष्ट नहीं हो जाता, अपितु उसे एक-एक धर्म को क्रमिक रूप से जानते हुए ही जाना जा सकता है। इस स्तर पर प्रारम्भ में स्यात् पद द्वारा सामान्य रूप से वस्तु के अनेकान्तात्मक स्वरूप को ग्रहण

---

1. लघीयस्त्रय, गाथा-73

करने पर ही नयात्मक ज्ञान सम्यक् हो सकता है। इस प्रकार श्रुत प्रमाण अथवा स्याद्वाद के द्वारा सामान्य रूप से वस्तु के अनेकान्तात्मक स्वरूप को ग्रहण करने के उपरान्त ही उसके एक विशेष अंश को ग्रहण करने वाले नय ज्ञान की उत्पत्ति होती है तथा विभिन्न नयों द्वारा वस्तु के सभी धर्मों को जानने पर श्रुत प्रमाण की उत्पत्ति होती है। श्रुत प्रमाण के इस द्वितीय स्तर पर वस्तु के विभिन्न धर्मों का प्रथम स्तर की तुलना में विशिष्ट बोध होता है, लेकिन इस स्तर पर यह ज्ञात नहीं होता कि एक धर्म का अन्य धर्म से सम्बन्ध किस प्रकार का है। इस स्तर पर श्रुत प्रमाण की उत्पत्ति होने के पश्चात् प्रवृत्त होने वाले नय द्वारा ही एक धर्म के अन्य धर्म सापेक्ष विशिष्ट स्वरूप को जाना जा सकता है। इस प्रकार श्रुतज्ञान द्वारा वस्तु के विशिष्ट स्वरूप का बोध प्रमाण से नय, नयों से प्रमाण तथा प्रमाण से नय की उत्पत्ति क्रम पूर्वक होती है।

अक्षरात्मक [शब्द लिंगज] श्रुतज्ञान :-

परोपदेश पूर्वक अथवा अन्य व्यक्ति के वचनों के द्वारा उत्पन्न होने वाला पदार्थ का ज्ञान शब्दलिंगज श्रुतज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान परोक्ष होता है तथा इसका विषय ऐसा पदार्थ होता है जो अभी तक प्रत्यक्ष, अनुमान आदि अन्य प्रमाणों से नहीं जाना गया है। यह ज्ञान आप्त पुरूष, जिसने विषय को यथार्थतः जाना है तथा जो सत्यवादिता आदि गुणों से युक्त है, के वचनों से उत्पन्न होने पर ही यथार्थ हो सकता है। उसे शब्द प्रमाण भी कहा जाता है। भारतीय दर्शन में शब्द प्रमाण के प्रायः दो भेद किये जाते हैं - लौकिक तथा अलौकिक। जो ज्ञान सामान्य व्यक्तियों के शब्दों से उत्पन्न होता है और उनके इन्द्रियानुभव पर आधारित है, उसे लौकिक शब्द प्रमाण कहा जाता है, जो ज्ञान अवैदिक दर्शनों के अनुसार अतीन्द्रिय ज्ञानियों तथा वैदिक दर्शनों के अनुसार ईश्वरकृत अथवा अपौरूषेय वेद और उनका अनुसरण करने वाले मनीषियों के वचनों से उत्पन्न हुआ है तथा धर्म, मोक्षादि अतीन्द्रिय पदार्थों की जानकारी प्रदान करता है वह अलौकिक शब्द प्रमाण है।

<u>वक्ता की आप्तता के निर्धारण का आधार</u> - श्रुतज्ञान एक व्यक्ति द्वारा किसी विषय में अर्जित ज्ञान का भाषा के माध्यम से अन्य व्यक्ति को सम्प्रेषण है। भाषा के द्वारा विषय का वर्णन उसका यथार्थ बोध नहीं होने पर तथा अन्य व्यक्ति को धोखा देने के लिये भी किया जाता है। ऐसी स्थिति में वर्णित विषय का यथार्थ बोध नहीं हो सकता। हमें शब्दों के द्वारा विषय का यथार्थ बोध ही हो इसके लिये वक्ता की आप्तता का निश्चय करना आवश्यक है। किसी विषय के प्रति वही व्यक्ति आप्त हो सकता है जो यथार्थ ज्ञान, वैराग्यादि गुणों से युक्त हो तथा अज्ञान, लोभ, क्रोधादि दोषों के वशीभूत होकर अपनी बात नहीं कह रहा हो। आप्त शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए अकलंक कहते हैं, " जो आप्ति से युक्त हो वह आप्त है। आप्ति के दो अर्थ हैं - (1) अर्थ के साक्षात्कारादि गुण आप्ति हैं, (2) सम्प्रदाय का अविच्छेद आप्ति है।[1] सम्प्रदाय के अविच्छेद रूप आप्ति से आशय है - साक्षात् अथवा परम्परागत रूप से अर्थ के साक्षात्कर्तृता व्यक्ति के वचनों से उत्पन्न ज्ञान युक्तता। वादिराज कहते हैं, "यथार्थ ज्ञान, वैराग्यादि गुणों से युक्त व्यक्ति आप्त होता है तथा उसके वचन यथार्थ ही होते हैं। वचनों की अयथार्थता उन गुणों से भिन्न अज्ञान, राग, द्वेषादि दोषों का कार्य है।"[2]

प्रश्न उठता है कि यह निश्चय किस प्रकार किया जा सकता है कि यह व्यक्ति यथार्थ ज्ञान, सत्यवादिता आदि गुणों के कारण आप्त है? दार्शनिक क्षेत्र में हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न दर्शनों द्वारा परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है तथा सभी व्यक्ति अपने सम्प्रदाय के प्रवर्तक को आप्त - अर्थ के साक्षात्कारादि गुणों से युक्त स्वीकार करते हैं। उनमें से कौन आप्त है, किसने वास्तव में अर्थ का साक्षात्कार किया है इसका निश्चय करने का कोई साधन नहीं है। व्यक्ति विशेष की आप्तता का निश्चय प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं किया जा सकता, क्योंकि अन्य व्यक्ति की चेतना प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकती। अनुमान के द्वारा भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि तत्त्वदर्शी भी अतत्त्वदर्शी के समान ही कार्य करते हैं।

---

1. अष्टशती - अष्ट सहस्त्री; पृष्ठ-239
2. न्याय विनिश्चय विवरण, भाग-2, पृष्ठ [illegible]

इसके उत्तर में विद्यानन्दि कहते हैं कि व्यक्ति के वाक्-व्यापार और काय व्यापार की यत्नपूर्वक की गयी परीक्षा के द्वारा उसकी आप्तता और अनाप्तता का अनुमान किया जा सकता है। जिस प्रकार एक मन्द बुद्धि व्यक्ति धूम और धूम ध्वजा में अन्तर नहीं कर पाता, इसलिये उसे अग्नि के अभाव में भी धूम की उपलब्धि हो जाती है, लेकिन एक बुद्धिमान व्यक्ति को कभी भी धूम और अग्नि के मध्य विद्यमान व्याप्ति सम्बन्ध का अपवाद उपलब्ध नहीं होता, इसी प्रकार एक ज्ञानादि अतिशय से युक्त व्यक्ति तथा अज्ञानी, रागी, द्वेषी व्यक्ति के व्यवहार में अन्तर होता है तथा एक प्रज्ञावान व्यक्ति वक्ता के वाग्व्यापारादि का भली प्रकार परीक्षण कर उसकी आप्तता का सम्यक् अनुमान कर सकता है।[1]

जो व्यक्ति हमारे समक्ष विद्यमान है उसके वचनों की यथार्थता का निश्चय उसकी शारीरिक चेष्टाओं-मुखाकृति, बोलने के ढंग आदि तथा वचनों के परीक्षण पूर्वक किया जा सकता है, लेकिन जिस व्यक्ति के वचन ही उपलब्ध हैं उसकी आप्तता के निश्चय का उपाय प्रस्तुत करते हुए समन्तभद्र कहते हैं कि वही व्यक्ति आप्त हो सकता है जिसके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधी हों। व्यक्ति के वचनों के प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित होने पर उसे आप्त नहीं कहा जा सकता।[2] अकलंक कहते हैं कि शास्त्र में विद्यमान गुणदोषों के आधार पर शास्त्रकार के गुण दोषों का अनुमान किया जाता है क्योंकि शास्त्र में विद्यमान गुणदोष शास्त्रकार के गुणदोषों के अभाव में असम्भव हैं।[3] लधीयस्त्रय में वे कहते हैं कि जिस व्यक्ति के वचन व्यवहार से अविसंवादी हैं वही आप्त हो सकता है। प्रत्यक्ष, अनुमानादि समस्त ज्ञान व्यवहार से अविसंवादी होने पर ही यथार्थ, अन्यथा अयथार्थ होते हैं। व्यवहार अर्थ अभिधान और प्रत्ययात्मक होता है। श्रुतज्ञान की प्रामाणिकता के निश्चय का आधार उसमें पूर्वापर विरोध का अभाव तथा अन्य प्रमाणों से अविरोध है।[4]

---

1. अष्ट सहस्त्री: पृष्ठ-72
2. आप्त मीमांसा, गाथा - 6-7
3. न्याय विनिश्चय 3/3
4. लधीयस्त्रय स्ववृत्ति श्लोक - 42

किसी भी विषय को जानने के लिये प्रवृत्ति का लक्ष्य इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहार है। ज्ञान इस लक्ष्य की प्राप्ति कराने में समर्थ होने पर ही यथार्थ, अन्यथा अयथार्थ है। जिन वचनों का अनुसरण कर इष्ट पदार्थ को प्राप्त किया जा सके वे अर्थात्मक व्यवहार से अविसंवादी हैं, जिन वचनों के द्वारा इष्ट अर्थ का प्रतिपादन किया जा सके वे वचनात्मक व्यवहार से अविसंवादी हैं तथा जिनके द्वारा इष्ट अर्थ को जाना जा सके वे ज्ञानात्मक व्यवहार से अविसंवादी हैं। वचनों की यथार्थता को अर्थात्मक व्यवहार से अविसंवाद के आधार पर निश्चित कर पाना सदैव सम्भव नहीं होता, क्योंकि उनका विषय अत्यन्त परोक्ष पदार्थ भी होते हैं। इसलिये प्रायः इनकी यथार्थता और वक्ता की आप्तता का निश्चय वचनात्मक और ज्ञानात्मक व्यवहार से अविसंवाद के आधार पर किया जाता है। व्यक्ति के वचनों में विद्यमान पूर्वापर विरोध अभिधानात्मक व्यवहार से विसंवाद है क्योंकि विरोधी कथन इष्ट तत्त्व का प्रतिपादन कर सकने में असमर्थ हैं तथा उनका अन्य प्रमाणों से विरोध ज्ञानात्मक व्यवहार से विसंवाद है।

व्यक्ति के वचनों के अभिधानात्मक और प्रत्ययात्मक व्यवहार से अविसंवाद होने पर ही वह आप्त हो सकता है। वादिराज कहते हैं, " कोई भी व्यक्ति विद्वान है, गुणवान है, इसका निश्चय इसी आधार पर होता है कि उसके वचन प्रत्यक्ष और आगम से अविरुद्ध प्ररूपण करने वाले हैं। प्रत्यक्ष और उसका अनुसरण करने वाले स्मृति, अनुमान आदि किसी भी प्रमाण से वह वर्णन असंगति नहीं रखता। साथ ही व्यक्ति ग्रन्थ के विभिन्न भागों में वस्तु का पूर्वापर विरोध रहित रूप से वर्णन कर रहा है।[1]

~~इस प्रकार विभिन्न उपायों से उसकी विशेषज्ञता के निश्चय के उपरान्त भी~~

दैनिक जीवन में हम देखते हैं कि किसी क्षेत्र विशेष में उसी व्यक्ति के वचन प्रामाणिक माने जाते हैं जिसकी विशेषज्ञता सुनिश्चित है। उसकी विशेषज्ञता का निश्चय हम उसके प्रति विभिन्न स्त्रोतों से प्राप्त जानकारियों के आधार पर करते हैं। यदि व्यक्ति

---

1. न्याय विनिश्चय विवरण, भाग-2 पृष्ठ - 254-55

विशेषज्ञ होते हुए भी क्रोध, लोभ आदि के वशीभूत होकर कुछ कहे तो उसके वचन सन्देह से परे नहीं रहते। ये गुण दोष यद्यपि प्रत्यक्षगम्य नहीं है तथापि व्यक्ति के व्यवहार द्वारा इनका अनुमान किया जा सकता है। उदाहरण के लिये एक लोभी डाक्टर द्वारा एक गरीब रोगी का उदासीनता पूर्वक किये गये परीक्षण के उपरान्त रोग के निदान के बारे में डाक्टर के वचनों पर रोगी विश्वास नहीं कर पाता। इसके विपरीत एक अन्य डाक्टर का पूरी तत्परता पूर्वक किये गये निरीक्षण के उपरान्त कहे गये वचनों पर रोगी को विश्वास हो जाता है। व्यक्ति की आप्तता के निश्चय के उपरान्त भी यदि उसके वचनों का अनुसरण करने पर अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति में असफलता मिले तो वह उसकी आप्तता में संशय उत्पन्न कर देती है।

कई क्षेत्र ऐसे होते हैं जिनके प्रति हम पूर्ण-रूपेण अनभिज्ञ होते हैं। उन क्षेत्रों में किसी भी प्रकार की जानकारी के लिये हम आप्त पुरूष के वचनों पर ही निर्भर करते हैं। एक सामान्य व्यक्ति के लिये विज्ञान, चिकित्सा, योग साधना आदि अनेक क्षेत्र इसी प्रकार के होते हैं जिनके सम्बन्ध में वह स्वयं कुछ भी नहीं जानता तथा उसे इनके सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के परामर्श के लिये विशेषज्ञ की आवश्यकता होती है। व्यक्ति उसके वचनों को उनके अनुसरण पूर्वक अवांछित परिणामों के प्राप्त नहीं होने तक पूर्णरूपेण सत्य मानता है। ऐसे क्षेत्रों में व्यक्ति का ज्ञान " क ने ऐसा कहा है" रूप होता है", "ऐसा है" इस निश्चयात्मकता से युक्त नहीं। यह दर्शन (प्रतीति, विश्वास) रहित ज्ञान वास्तव में मिथ्या ज्ञान है। व्यक्ति को विषय का यथार्थ बोध तभी हो सकता है, जबकि वह स्वयं विषय को समझ कर उसके प्रति यह महसूस करें कि "ऐसा है"।

शब्द प्रमाण का महत्त्व पूर्ण रूपेण अज्ञात क्षेत्र के प्रति किसी प्रकार के परामर्श की प्राप्ति में ही नहीं है अपितु किसी क्षेत्र विशेष में नवीन जानकारी प्राप्त करने तथा दक्षता प्राप्त करने का भी यह महत्वपूर्ण साधन है। परिचित क्षेत्र में शब्द प्रमाण द्वारा नवीन जानकारी प्राप्त करते समय व्यक्ति उसकी यथार्थता का निश्चय वर्णन के विषय के पूर्व ज्ञात तथ्यों से संगति तथा उसके वचनों में विद्यमान आन्तरिक संगति के आधार पर करता है। वर्णन में इन विशेषताओं के विद्यमान होने पर भी यदि विषय का परोक्ष

अंश युक्तियों से विरुद्ध हो तो व्यक्ति उसे यथार्थ स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार पूर्ण रूपेण अपरिचित क्षेत्र में किसी भी कथन को मात्र व्यक्तिकी आप्तता के आधार पर सत्य स्वीकार किया जा सकता है, लेकिन जिस क्षेत्र में व्यक्ति की विषय को समझने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी है, उसमें वह किसी भी कथन को आप्त पुरुष के वचन होने मात्र के कारण यथार्थ स्वीकार नहीं कर लेता, अपितु प्रत्येक कथन की सत्यता का विभिन्न प्रकार से परीक्षण पूर्वक निश्चय करता है तथा उनकी सत्यता के परीक्षण का उपाय है अन्य प्रमाणों और युक्तियों से विरोध रहितता और वचनों में पूर्वापर विरोध का अभाव।

भाषा की अर्थ वाचकता और श्रुतज्ञान :-

चार्वाक के अतिरिक्त सभी भारतीय दार्शनिक शब्द प्रमाण की सत्ता को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यही ज्ञान का एकमात्र ऐसा साधन है जो सत्ता के स्वरूप के प्रति अज्ञान की निवृत्ति तथा मोक्षप्राप्ति के उपायों का बोध कराने में समर्थ है। इसके बावजूद भी बौद्ध तथा अद्वैत वेदान्ती सत्ता को परमार्थतः अनिवर्चनीय मानते हैं। उनके अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान, जिसमें न तो किसी शब्द का प्रयोग होता है और न ही किसी सम्प्रत्यय का, ही वस्तु का वास्तविक ज्ञान है। सविकल्पक या शब्दात्मक ज्ञान बौद्धों के अनुसार संवृत्ति सत्य तथा अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार व्यावहारिक सत्य है। बौद्ध पदार्थ की पारमार्थिक अवक्तव्यता को स्थापित करते हुए कहते हैं कि शब्द और अर्थ अर्थात् वस्तु में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। इसलिये शब्द के द्वारा अर्थबोध सम्भव नहीं है। सम्बन्ध दो प्रकार के होते हैं - तादात्म्य सम्बन्ध और तदुत्पत्ति सम्बन्ध । दो अभिन्न पदार्थों में स्थित सम्बन्ध को तादात्म्य सम्बन्ध कहा जाता है तथा कारण कार्य रूप से सम्बन्धित पदार्थों में तदुत्पत्ति सम्बन्ध होता है। शब्द और पदार्थ परस्पर भिन्न-भिन्न हैं, इसलिये इनमें तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि इनमें तादात्म्य सम्बन्ध हो तो मोदक शब्द का उच्चारण करते ही मुख में मोदक आ जाना चाहिये तथा अग्नि शब्द का उच्चारण करते ही मुख जल जाना चाहिये, जो

नहीं होता। इनमें तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं हैं क्योंकि यदि शब्दों की उत्पत्ति पदार्थ द्वारा ही होती हो तो अर्थ के सद्भाव में ही शब्द का उच्चारण होना चाहिये। तथा अर्थ के अभाव में शब्द का उच्चारण कभी नहीं होना चाहिये, लेकिन हम देखते हैं कि पदार्थ के अभाव में ही नहीं बल्कि असम्भव पदार्थ, जैसे - अंगुली के अग्र भाग में सौ हाथी हैं, के लिये भी शब्द प्रयोग होता है। वास्तव में शब्द के वास्तविक वाच्य तो मानसिक विकल्प हैं तथा इन दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध है। विकल्प शब्दात्मक तथा शब्द विकल्पात्मक होते हैं, जहां-जहां शब्द होते हैं वहां-वहां विकल्प भी होते हैं तथा जहां-जहां विकल्प होते हैं वहां-वहां शब्द भी होते हैं। स्वलक्षण वास्तव में अवक्तव्य है। भाषा द्वारा उसका वर्णन उस पर सामान्याकार को आरोपित करके किया जा-ता है। अतः शब्दात्मक ज्ञान पारमार्थिक सत्य न होकर संवृत्ति सत्य है। जैन दार्शनिक कहते हैं कि भाषा के द्वारा मात्र मानसिक विकल्पों का ही वर्णन नहीं किया जाता अपितु इसमें पदार्थ के स्वरूप का यथार्थत प्रतिपादन करने की सामर्थ्य भी है। निश्चित शब्द का निश्चित पदार्थ के साथ वाच्य वाचक सम्बन्ध होता है। जिस व्यक्ति ने इस सम्बन्ध को जान लिया है वही शब्द विशेष को सुन कर उसके वाचक पदार्थ को जानता है। इनमें तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध का अभाव होने के कारण शब्द को अर्थ का अवाचक मानना उचित नहीं है। जिस प्रकार चक्षु और रूप में इन सम्बन्धों का अभाव होने पर भी चक्षु रूप को ही प्रकाशित करता है, उसी प्रकार प्रतिनियत शब्द प्रतिनियत पदार्थ को ही प्रकाशित करता है।[1]

"घट लाओ" इन शब्दों को सुनकर व्यक्ति की घट लाने के लिये प्रवृत्ति भाषा द्वारा यथार्थ प्रतिपादन किये जा सकने पर ही सम्भव है। यदि मान भी लिया जाय कि "सभी शब्द अयथार्थवाची हैं" तो यह कथन भी शब्दात्मक होने के कारण मिथ्या ही है। यदि यह नहीं माना जाय तथा इस कथन को सत्य माना जाय तो जिस आधार पर इस कथन को सत्य माना जा रहा है, उसी आधार पर सभी कथनों को यथार्थ प्रतिपादन के योग्य मान लिया जाय।[2]

---

1. न्याय कुमुद चन्द्र, पृष्ठ 538-39
2. सिद्धि विनिश्चय टीका; पृष्ठ-619

कहा जा सकता है कि किसी को प्रत्यक्ष हुए सत्य का ज्ञान अन्य व्यक्ति को भाषा द्वारा ही हो सकता है। जिस प्रकार "स्वलक्षण अनिर्देश्य है", "प्रत्यक्ष कल्पना-पोढ़ है" कहने में कोई विरोध नहीं है उसी प्रकार " सभी तत्व अवाच्य हैं" कहने में भी कोई विरोध नहीं है। ऐसा स्वीकार किये जाने पर स्वलक्षण को पूर्णरूपेण अनिर्देश्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि "अनिर्देश्य" पद के द्वारा उसकी ओर निर्देश किया जा रहा है। यदि कहा जाय कि उसके द्वारा स्वलक्षण की ओर निर्देश न किया जाकर स्वलक्षण सामान्य की ओर निर्देश किया जा रहा है, स्वलक्षण तो पूरी तरह अनिर्देश्य ही है तो स्वलक्षण कभी ज्ञात ही नहीं हो सकता। जिस प्रकार चाक्षुष प्रत्यक्ष से शब्द का बोध नहीं होता, उसी प्रकार स्वलक्षण का बोध भी नहीं होता। अतः स्वलक्षण न तो प्रत्यक्ष द्वारा ही ज्ञात होता है और न ही शब्द द्वारा। इसलिये वह पूर्णरूपेण अज्ञात है।[1]

वास्तव में मात्र सामान्य और मात्र विशेष किसी भी प्रमाण से ज्ञात नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष,अनुमान आदि सभी प्रमाणों से सामान्य - विशेषात्मक अर्थ ही ज्ञात होता है। वस्तु के सामान्य - विशेषात्मक स्वरूप के कारण ही भाषा द्वारा उसका प्रतिपादन सम्भव है। जिस व्यक्ति ने "घट" शब्द और "घट" व्यक्ति में वाच्य वाचक सम्बन्ध स्थापित किया है उसे "घट" शब्द को सुनने पर पूर्व में देखे हुए घट व्यक्ति से सादृश्य युक्त घट व्यक्ति का ज्ञान होता है, विजातीय पटादि पदार्थों का नहीं।

पदार्थ के अयथार्थ वर्णन का कारण भाषा में उसके प्रतिपादन की सामर्थ्य का अभाव न होकर वक्ता में विद्यमान दोष हैं। प्रभाचन्द्र कहते हैं, "चक्षुरादि के समान ही शब्द का स्वरूप भी अर्थ प्रकाशन मात्र है, यथार्थ - अयथार्थ प्रकाशन रूप नहीं। यथार्थ अयथार्थ प्रकाशन कारण के गुण-दोष पर आश्रित हैं। जिस प्रकार निर्मलता आदि गुणों के सद्भाव में चक्षु रूप को यथावत प्रकाशित करते हैं तथा पीलिया रोग आदि होने पर अयथावत उसी प्रकार शब्द भी वक्ता के गुण दोषों के अनुसार पदार्थ को यथार्थ-अयथार्थ रूप से प्रकाशित करते हैं।"[2]

---

1. अष्ट सहस्त्री पृष्ठ-118
2. न्याय कुमुद चन्द्र, पृष्ठ - 542-43

भाषा के माध्यम से अर्थबोध हो सके इसके लिये शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक सम्बन्ध का ज्ञान होना अनिवार्य है पर यह श्रुतज्ञान का पर्याप्त कारण नहीं है। मात्र भाषा की समझ होने से तथा एक-एक पद का पृथक-पृथक ज्ञान होने से वर्णित विषय को नहीं समझा जा सकता। लेखक जिस बात को प्रतिपादित करना चाहता है, जिस वस्तु का वर्णन करना चाहता है, उसके परस्पर सम्बन्धित अनेक पक्ष हैं जिनका वर्णन क्रमिक रूप से अनेक वाक्यों द्वारा ही किया जा सकता है। प्रत्येक वाक्य एक स्वतन्त्र इकाई न होकर एक शास्त्र उनसे भी आगे बढ़ कर एक तन्त्र का अंश है तथा उसके अर्थ को समग्र के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। एक पद वर्णों का, वाक्य पदों का और शास्त्र वाक्यों का संगठन होता है। अत: मात्र भाषा की समझ से वर्णित विषय ज्ञात नहीं हो सकता। भाषा की समझ पूर्वक व्यक्ति हर पद तथा वाक्य के अर्थ को वो समझ सकता है, पर यह नहीं समझ सकता कि वक्ता का अभिप्राय क्या है, वह क्या कहना चाहता है। इसके लिये सम्पूर्ण कथनों तथा उनकी पारस्परिक सापेक्षता को ध्यान में रखना आवश्यक है। विभिन्न वाक्यों को एक साथ धारण कर उनकी परस्पराश्रितता, पारस्परिक सापेक्षता को समझना मात्र भाषा की समझ होने से सम्भव नहीं है, अपितु इसके लिये व्यक्ति में तद्विषयक श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न क्षमता का होना आवश्यक है।

शब्द और पदार्थ विशेष में स्थित वाच्य वाचक सम्बन्ध के आधार पर भाषा की अर्थदायकता का सिद्धान्त हमारे समक्ष कई समस्याएं उत्पन्न करता है। जब निश्चित शब्द और निश्चित अर्थ के मध्य वाच्य वाचक सम्बन्ध होता है तथा जो व्यक्ति इस सम्बन्ध को जानता है उसे शब्दों के प्रत्यक्ष द्वारा उनके वाचक पदार्थों का ज्ञान होता है तो समान शब्दों के ज्ञान पूर्वक एक भाषा से परिचित सभी व्यक्तियों को वर्णित पदार्थ का समान ज्ञान होना चाहिये तथा भाषा से अपरिचित व्यक्तियों को मात्र शब्दकोष का अवलम्बन लेकर विषय समझ में आ जाना चाहिये, इसके विपरीत उनके वर्णित पदार्थ के ज्ञान में व्यापक अन्तर क्यों पाया जाता है? उदाहरण के लिये वेद, उपनिषद् आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर एक व्यक्ति शाब्दिक अर्थ सहित मात्र यही जान पाता है कि

इनमें क्या लिखा हुआ है, जबकि दूसरा व्यक्ति इनकी अनेक प्रकार से व्याख्या करता है, इनमें अन्तर्निहित जीवन दर्शन, साधना पद्धति आदि से सम्बन्धित अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। इस कार्य को मात्र भाषा की समझ अथवा भाषा से अपरिचित होने पर शब्दकोष का अवलम्बन लेकर नहीं किया जा सकता।

बहुत बार हम एक-एक शब्द के अर्थ से परिचित होते हुए भी कथनों का आशय नहीं समझ पाते। उदाहरण के लिये "अनेक गुणों की एकता ही द्रव्य है"। इस कथन में हम एक-एक पद का अर्थ पृथक-पृथक रूप से जानते हुए भी वाक्य का अर्थ नहीं समझ पाते, अथवा इस वाक्य में "एकता" शब्द का अर्थ नहीं समझ पाते। इसके अतिरिक्त बहुत बार हमें यह महसूस होता है कि हमने वाक्यों का पहले जो अर्थ समझा था, उनका वास्तव में वह अर्थ न होकर अन्य अर्थ है, तथा उस समय हमने जो समझा था वह गलत था। यदि प्रत्येक शब्द का वाच्य अर्थ नियत होने के कारण भाषा में अर्थ वाचकता की सामर्थ्य है तो हमें इस प्रकार की समस्याओं का सामना क्यों करना पड़ता है ?

जैन दार्शनिक कहते हैं कि भाषा की समझ श्रुतज्ञान की उत्पत्ति की अनिवार्य शर्त है लेकिन यह इसका पर्याप्त कारण नहीं है। श्रुतज्ञान की उत्पत्ति के अन्य कारण हैं - व्यक्ति का तद्विषयक पूर्ववर्ती मति श्रुतज्ञान, वर्णित विषय का स्याद्वादनय संस्कृत रूप से ग्रहण तथा व्यक्ति के श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम । व्यक्ति का पूर्ववर्ती मतिश्रुतज्ञान ही वह आधार है जिस पर किसी वर्णित विषय की समझ उत्पन्न होती है। जिस प्रकार किसी पदार्थ का अवग्रह ही वह धरातल है जिस पर ही तद्विषयक ईहा की उत्पत्ति होती है, यद्यपि यह उसके ईहाज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के अनुसार ही हो सकती है; उसी प्रकार किसी वर्णित विषय को व्यक्ति अपने श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के अनुसार तद्विषयकमतिश्रुतज्ञान का अवलम्बन लेकर जानता है। उसका श्रुतज्ञान विषय को स्याद्वादनय संस्कृत रूप से ग्रहण करने पर ही स्पष्ट, गहन और यथार्थ हो सकता है।

श्रुतज्ञान परोक्ष अर्थ का ज्ञान है। बौद्ध और वैशेषिक इसका अनुमान में अन्तर्भाव करते हैं जबकि जैन दार्शनिक इसे एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। इसके द्वारा वस्तु के दिक्कालिक स्वरूप का वर्णन, तथ्यों के मध्य सम्बन्धों की व्याख्या तथा विभिन्न तथ्यों की व्याख्या करने वाले सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है। शब्द प्रमाण का विषय पदार्थ का ऐसा स्वरूप होता है जिसे अभी तक प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं जाना गया है अथवा जिसे इन प्रमाणों द्वारा जानने की क्षमता हममें अभी नहीं है, लेकिन व्यक्ति इसके विषय को अपने तद्विषयक इन्द्रिय और मानस प्रत्यक्ष का अवलम्बन लेकर उनसे सादृश्य और विलक्षणता के ग्रहण पूर्वक ही जान सकता है। कभी कोई पूर्णरूपेण इन्द्रियातीत पदार्थ, जिसका हमारे इन्द्रियानुभव से किसी भी प्रकार का सादृश्य नहीं हो, हमारे श्रुतज्ञान का विषय नहीं हो सकता।

श्रुतज्ञान द्वारा हम अतीन्द्रिय पदार्थों को भी जानते हैं लेकिन उनका बोध हमें हमारे इन्द्रियानुभव से सादृश्य और विलक्षणता के ग्रहण पूर्वक ही होता है। उदाहरण के लिये जैन ग्रन्थों में मोक्ष, मोक्ष मार्ग, धर्म, अधर्म द्रव्य आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का वर्णन किया जाता है। मोक्ष वह अवस्था है जिसमें जीव जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है तथा अपने अनन्तदर्शनज्ञान-सुखवीर्यमय स्वरूप को प्राप्त करता है। यद्यपि यह अवस्था कभी भी इन्द्रिय या मानस प्रत्यक्ष का विषय नहीं बन सकती लेकिन ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य हमारे लिये स्वसंवेदनगम्य हैं तथा इनके न्यूनाधिक परिमाण को हम अनुभव करते हैं। हमारे इन्हीं अनुभवों से सादृश्य और विलक्षणता के ग्रहण पूर्वक हम शब्दों द्वारा मोक्ष के स्वरूप को जानते हैं। अनुभवगम्य गतिहेतुता, स्थितिहेतुता आदि के द्वारा हम अतीन्द्रिय धर्म, अधर्म द्रव्यों को जानते हैं। इस प्रकार किन्हीं भी तथ्यों के वर्णन को हम हमारे मतिज्ञान पूर्वक ही समझते हैं। उनके सार्वभौमिक स्वरूप की व्याख्या करने वाले सिद्धान्तों को भी उन तथ्यों के प्रत्यक्ष पूर्वक, जो कि उस स्वरूप की विशेष अभिव्यक्ति है, ही समझा जा सकता है। उदाहरण के लिये शब्द द्वारा गुरुत्वाकर्षण के

नियम का बोध ऊपर से गिरती हुई वस्तु का पृथ्वी की ओर आने के दृष्टान्त के प्रत्यक्ष पूर्वक ही होता है। इस प्रकार समस्त श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक ही उत्पन्न होता है।

श्रुतज्ञान की उत्पत्ति श्रुत पूर्वक भी होती है। बहुत बार वर्णित विषय हमें तद्विषयक अध्ययन और चिन्तन का अवलम्बन लेकर ही समझ में आता है। लेकिन यह श्रुतज्ञान भी अन्ततः मतिज्ञान पर ही आश्रित होता है। उदाहरण के लिये शब्द प्रमाण से अनेकान्त की परिभाषा को जानकर ही हम उसके विशिष्ट स्वरूप को जान सकते हैं लेकिन शास्त्र में वर्णित अनेकान्त के सामान्य स्वरूप को व्यक्ति अपने मतिज्ञान का अवलम्बन लेकर ही समझ सकता है। इस प्रकार अनेकान्त के विशिष्ट स्वरूप का ज्ञान श्रुत पूर्वक होते हुए भी अन्ततः मतिज्ञान पर ही आश्रित है।

श्रुतज्ञान की इस इन्द्रियानुभव पूर्वकता के कारण ही शंकर सत्ता को परमार्थतः अनिर्वचनीय कहते हैं। वे कहते हैं कि सत्ता के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान समाधि की अवस्था में होने वाले निर्विकल्पक प्रत्यक्ष पूर्वक होता है। उस अवस्था में प्राप्त होने वाली अनुभूतियाँ व्यक्ति के सामान्य स्तर के अनुभव से पूर्णरूपेण विलक्षण होती हैं, लेकिन उनसे अपरिचित व्यक्ति जब उनका वर्णन सुनता है तो वह अपने इन्द्रियानुभव से प्राप्त सम्प्रत्ययों के द्वारा ही उन्हें समझता है, तथा उनके वास्तविक स्वरूप को ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिये सत्ता वास्तव में अनिर्वचनीय है तथा भाषा द्वारा उसके वास्तविक स्वरूप का बोध सम्भव नहीं है। भाषा अथवा शब्द प्रमाण का महत्त्व मात्र वस्तु के निषेधात्मक पक्ष को स्पष्ट करने तथा उसके भावात्मक स्वरूप के बोध का उपाय बताने में ही है।

यदि हम हमारे अनुभवों पर दृष्टिपात करें तो हम देखते हैं कि मतिज्ञान द्वारा जाने गये जड़ पदार्थों का अवलम्बन लेकर वर्णन द्वारा उनसे सदृश विसदृश पदार्थों को जानने में उतनी अस्पष्टता नहीं होती जितनी अनुभूतियों के क्षेत्र में होती है। उदाहरण के लिये जब हम किसी बाढ़ से घिरे हुए व्यक्तियों के दयनीय अवस्था के वर्णन को सुनते हैं तो हम उनकी स्थिति की भयावयता की कल्पना नहीं कर पाते, क्योंकि हम उनकी

परेशानियों को हमारे सामान्य स्थिति में भोगे हुए दुःखों के अनुभव के आधार पर समझते हैं। हमने कुछ ही घण्टों की भूख का, अनिवार्य पदार्थों के अभाव का कुछ ही समय के लिये अनुभव किया है तथा इन अनुभवों से सादृश्य पूर्वक जब हम अन्य व्यक्तियों के कष्टों को समझना चाहते हैं तो उनकी भयावह स्थिति को यथार्थतः नहीं समझ पाते। यद्यपि विभिन्न व्यक्तियों की सम्वेदनशीलता की मात्रा में अन्तर होता है तथा उसके अनुसार उनकी वर्णन द्वारा अन्य व्यक्तियों की अनुभूतियों को समझने की क्षमता में अन्तर होता है, लेकिन समाधि की अवस्था में होने वाली अनुभूतियाँ सामान्य स्तर की अनुभूतियों से पूर्णरूपेण विलक्षण हैं। इसलिये सामान्य व्यक्ति को वर्णन द्वारा प्राप्त उनका ज्ञान मात्र शाब्दिक ज्ञान ही रहता है, वास्तविक ज्ञान नहीं हो पाता। इस बात को जैन दार्शनिक भी स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि श्रुतज्ञान दर्शन पूर्वक ही यथार्थ होता है तथा श्रुतज्ञान के अनुरूप दर्शन नहीं होने पर वह मिथ्या होता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में "दर्शन" का अर्थ है "प्रतीति" "श्रद्धा" तथा इसकी उत्पत्ति स्वसंवेदन पूर्वक होती है। इसका आशय यह है कि आध्यात्मिक, अधिक व्यापक पद का प्रयोग करें तो अनुभूतियों के क्षेत्र में वर्णन द्वारा होने वाला ज्ञान यथार्थ तभी हो सकता है, जबकि व्यक्ति को उस वर्णन की यथार्थता की प्रतीति हो। यह प्रतीति उस प्रकार का अनुभव होने पर ही होती है।

इसके बावजूद सत्ता को पूर्णरूपेण अनिर्वचनीय नहीं कहा जा सकता। एक बार समाधि की अवस्था प्राप्त हो जाने पर व्यक्ति में उससे उच्च स्तरीय अवस्था की अनुभूतियों को वर्णन द्वारा समझने की क्षमता प्राप्त हो जाती है। साधना का पथ भी व्यक्ति शब्द प्रमाण द्वारा ही जानता है। इनको सविकल्पक ज्ञानमात्र को अविद्या जनित कह कर व्यावहारिक सत्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ज्ञान मात्र ही सविकल्पक होता है निर्विकल्पक ज्ञान का खण्डन हम पहले कर चुके हैं। विभिन्न व्यक्तियों के मतिज्ञान की व्यापकता के अन्तर के अनुसार उनके श्रुतज्ञान की स्पष्टता में अन्तर होता है। इसके अतिरिक्त भी व्यक्ति के मतिश्रुतज्ञान की व्यापकता उसके श्रुतज्ञान को अनेक प्रकार से प्रभावित करती है। भाषा की समझ ही मतिश्रुतज्ञान पूर्वक उत्पन्न होती है; तथा व्यक्ति

के मतिश्रुतज्ञान की व्यापकता के अनुसार उसके शब्दार्थ सम्बन्ध की समझ में अन्तर होता है। हमें शब्दार्थ बोध शब्द के विभिन्न सन्दर्भों में होने वाले प्रयोगों के निरीक्षण पूर्वक होता है। हम अनेक शब्दों का अर्थ इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ की ओर संकेत पूर्वक सीखते हैं। ज्ञान की विभिन्न शाखाएँ अपने विशिष्ट विषय के प्रतिपादनार्थ विशिष्ट शब्दावली का निर्माण करती हैं तथा उनके अर्थ का बोध उनके ग्रन्थों द्वारा होता है, लेकिन एक बार विशिष्ट शब्द और विशिष्ट पदार्थ के मध्य वाच्य वाचक सम्बन्ध को जान लेने मात्र से वह पूर्णरूपेण स्पष्ट नहीं हो जाता, अपितु वाच्य पदार्थ के स्वरूप बोध में निरन्तर वृद्धि के साथ-साथ उसके वाचक शब्द के अर्थ की समझ निरन्तर परिष्कृत होती जाती है। वाच्य पदार्थ के अनेक पक्ष होते हैं जो परस्पराश्रित होते हैं, एक-दूसरे के स्वरूप को निर्धारित और प्रभावित करते हैं तथा उस पदार्थ के वाचक शब्द के अर्थ में वे सब पक्ष समाहित होते हैं। जैसे-जैसे व्यक्ति पदार्थ के नये पक्षों को जानता है उसका पदार्थ का ज्ञान संशोधित और परिष्कृत होता जाता है, उसके वाचक शब्द के अर्थ का ज्ञान अधिक स्पष्ट होता जाता है। शब्दार्थ के इस अधिक स्पष्ट बोध का सद्भाव, अभाव ही उसके अधिक जटिल स्वरूप के वर्णन को समझने, नहीं समझने का कारण होता है। "अनेक गुणों की एकता ही द्रव्य है" अथवा "द्रव्य ही गुण है" और "द्रव्य गुण नहीं है" जैसे कथनों के आशय को समझने, नहीं समझने का कारण व्यक्ति की द्रव्य शब्द के अर्थ की समझ में अन्तर है। जो व्यक्ति इस शब्द के अर्थ में अन्तर्निहित एकानेकात्मकता, भेदाभेदात्मकता को जानता है वह इन कथनों का आशय तुरन्त समझ जाता है, अन्य व्यक्ति नहीं समझ पाता। द्रव्य की ये विशेषताएँ अपने अनुभवों का अवलम्बन लेकर एक द्रव्य के विभिन्न गुणों के पारस्परिक सम्बन्ध के विश्लेषण पूर्वक स्पष्ट होती हैं। यह विश्लेषण व्यक्ति स्वयं के चिन्तन द्वारा भी कर सकता है तथा अन्य व्यक्ति की रचना द्वारा भी प्राप्त हो सकता है।

कई बार शब्दार्थ सम्बन्ध के बोध के यथावत रहते हुए भी व्यक्ति को वक्ता के कथनों का आशय समझ में नहीं आता, उनके द्वारा उसे यह प्रतीति नहीं होती कि वास्तव में ऐसा है तथा अनुभव, अध्ययन और चिन्तन का अवलम्बन लेकर ही उसके आशय को यथार्थतः समझा जा सकता है। इसका कारण कई बार यह होता है कि कथन सूत्रात्मक

या संक्षिप्त होते हैं तथा उनमें कई बातें अन्तर्निहित होती हैं जिन्हें व्याख्या द्वारा स्पष्ट करके ही कथन के आशय को समझा जा सकता है। उदाहरण के लिये "श्रुत" मति पूर्वम् तत्त्वार्थ सूत्र के इस सूत्र के प्रत्येक शब्द का अर्थ स्पष्ट होते हुए भी सूत्र का अर्थ तभी स्पष्ट हो सकता है, जबकि यह बात स्पष्ट हो कि मतिज्ञान श्रुतज्ञान के पूर्व में होना क्यों आवश्यक है? वह श्रुतज्ञान को किस प्रकार प्रभावित करता है? इस प्रश्नों का उत्तर देने के लिये ही आचार्यों ने टीका ग्रन्थों की रचना की है, जिन्हें हम अपने अनुभव का अवलम्बन लेकर समझते हैं तथा उनमें भी किसी प्रकार की अस्पष्टता होने पर चिन्तन द्वारा ही इस सूत्र के आशय को समझा जा सकता है।

मतिश्रुतज्ञान की व्यापकता का श्रुतज्ञान की उत्कृष्टता को प्रभावित करने का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण यह है कि इनकी व्यापकता व्यक्ति के सम्प्रत्ययों के भण्डार को समृद्ध बनाती है, उसे विषय को अनेक प्रकार से देखने की क्षमता प्रदान करती है। जिस व्यक्ति ने मात्र धर्म ग्रन्थों का ही अध्ययन किया है वह महावीर के आचार सम्बन्धी सिद्धान्तों को मात्र धार्मिक दृष्टिकोण से ही देख सकता है, इसके विपरीत जिस व्यक्ति ने समाज शास्त्र, अर्थशास्त्र आदि का अध्ययन किया है, उसमें इन सिद्धान्तों के सामाजिक, आर्थिक आदि अनेक पक्षों को जानने की क्षमता भी होती है।

ऐसा इसलिये होता है कि ज्ञान का विषय सामान्य-विशेषात्मक-सदृशविसदृशात्मक, जातिव्यक्त्यात्मक पदार्थ होता है। यद्यपि इसका बोध समस्त पूर्ववर्ती मतिश्रुतज्ञान की पृष्ठभूमि पर होता है, लेकिन व्यक्ति वस्तु के सामान्य-विशेषात्मक स्वरूप को कितना अधिक ग्रहण कर सकता है, वह उसके श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम पर निर्भर करता है। किसी भी ज्ञान के समान श्रुतज्ञान के विषयभूत पदार्थ को मात्र वस्तु की बहुत अधिक विशेषताओं को रट लेने मात्र से ज्ञात नहीं कहा जा सकता और न ही अध्ययन द्वारा बहुत अधिक पदार्थों को जान लेने मात्र से उसे विद्वान कहा जा सकता है, अपितु उसके ज्ञान की उत्कृष्टता इस बात पर निर्भर करती है कि उसने वाच्य पदार्थ के सामान्य-विशेषात्मक स्वरूप को कितना अधिक समझा है। उदाहरण के लिये हमने अनेकान्त के

स्वरूप को कितना अधिक समझा है इसका निर्णय मात्र ग्रन्थ में दिये गये दृष्टान्तों को समझ लेने मात्र से नहीं हो जाता, अपितु इस आधार पर होता है कि हम आर्थिक, सामाजिक आदि विभिन्न क्षेत्रों में ज्ञान का विषय बन रहे पदार्थों के अनेकान्त के सामान्य स्वरूप की विशिष्ट अभिव्यक्ति को कितना अधिक ग्रहण कर पाते हैं। जैन ग्रन्थों में मुनि के सन्दर्भ में उपसर्ग और परिषह जय के स्वरूप का वर्णन किया जाता है। यह इनका एक विशेष दृष्टान्त है तथा इनमें इनका सामान्य स्वरूप अन्तर्निहित है। व्यक्ति की इन दृष्टान्तों की समझ को यथार्थ तभी कहा जा सकता है जबकि वह इन विशेष दृष्टान्तों में अन्तर्निहित सामान्य सिद्धान्त को ग्रहण कर सके तथा उसके द्वारा इस सामान्य सिद्धान्त को ग्रहण करने का अर्थ है कि वह व्यक्ति की विभिन्न अवस्थाओं में, जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में इस सामान्य सिद्धान्त की अभिव्यक्ति के विशिष्ट स्वरूप को पहचान सके। उपर्युक्त समस्त विवेचन के संदर्भ में अकलंक का यह कथन दृष्टव्य है, "बहुत शास्त्रों का थोड़ा-थोड़ा पल्लवग्राही ज्ञान रखने वाले पण्डित से एक शास्त्र के यावत् सूक्ष्म अर्थों को तलस्पर्शी गम्भीर व्याख्याओं से जानने वाला प्रगाढ़ विद्वान विशुद्धतर माना जाता है।"[1] व्यक्ति को वस्तु मात्र के सामान्य-विशेषात्मक स्वरूप का ग्रहण ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के अनुसार होता है। वह किसी ग्रन्थ के सूक्ष्म अर्थों को कितनी अधिक गम्भीर व्याख्या के साथ जान सकता है, यह उसके श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम पर निर्भर करता है। इस क्षयोपशम की प्रखरता के अभाव में मतिश्रुतज्ञान की व्यापकता मात्र पृथक-पृथक घटनाओं के बोध तथा अनेक ग्रन्थों के शब्दार्थ बोध सहित रहने के रूप में ही हो सकती है, किसी वस्तु की गहरी समझ तथा किसी पदार्थ की और अधिक गहरी समझ के धरातल के रूप में नहीं।

व्यक्ति को श्रुतज्ञान के विषयभूत पदार्थ के जटिल स्वरूप का यथार्थ बोध वर्णन को स्याद्वाद-नयसंस्कृत रूप से ग्रहण करने पर ही हो सकता है, तथा वह अपने श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के अनुसार ही वर्णन को स्याद्वादनयसंस्कृत रूप से ग्रहण कर सकता है।

---

1. तत्वार्थ वार्तिक, पृष्ठ - 325.

सदैव किसी विषय में परामर्श के लिये विशेषज्ञ की सलाह ली जाती है। विषय के सम्बन्ध में मोटी-मोटी बातें हम भी जान सकते हैं, लेकिन बदलती हुई स्थितियों के अनुसार वस्तु के स्वरूप में होने वाले परिवर्तन तथा सम्पूर्ण वस्तु के स्वरूप के अनुसार अथवा उसके अन्य धर्मों के विशिष्ट स्वरूप के अनुसार उसके एक धर्म के विशिष्ट स्वरूप को हम नहीं जानते तथा इसी लिये वस्तु के एकांश के विशिष्ट स्वरूप के प्रति किसी प्रकार के निर्णय के लिये हम विशेषज्ञ की सलाह लेते हैं। उदाहरण के लिये एक मजदूर, जिसने भवन निर्माण के क्षेत्र में वर्षों कार्य किया है, भवन निर्माण की सम्पूर्ण प्रक्रिया को जानता है, लेकिन हम उससे भवन निर्माण का कार्य न करा कर दक्ष कारीगर की ही तलाश करते हैं, क्योंकि वह भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से भवन निर्माण के प्रत्येक चरण के विशिष्ट स्वरूप को जानता है, जैसे वह यह जानता है कि किस प्रकार की जमीन में तथा कितनी ऊंचाई वाले भवन के लिये कितनी गहरी नींव होनी चाहिये, मकान में कहीं कोई दीवार उठाते समय दीवार की स्थिति को निर्धारित करने के लिये वह इन अनेक बातों-दीवार किस लिये उठायी जा रही है, मकान की नींव तथा नीचे वाली दीवार कितनी मजबूत है आदि पर विचार करता है। एक मजदूर में भवन निर्माण के प्रत्येक चरण के भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से अवस्थित भिन्न-भिन्न स्वरूप को ग्रहण करने की क्षमता का अभाव होने के कारण उससे इस क्षेत्र में परामर्श नहीं लिया जाता।

शब्द प्रमाण की उपयोगिता एक अज्ञात क्षेत्र में किसी प्रकार के परामर्श तक ही सीमित नहीं है, अपितु इसकी महत्ता उन क्षेत्रों में दक्षता प्राप्ति के प्रति तथा जिन क्षेत्रों में हमारी गति है, उनमें नवीन जानकारियों के अर्जन के प्रति भी है। यह यथार्थतः तभी सम्भव है जबकि व्यक्ति वर्णन का स्याद्वाद-नयसंस्कृत रूप से ग्रहण करे। वह यह ध्यान रखें कि प्रत्येक कथन एक नय-सत्यांश है। उसके पूर्व "स्यात्" पद विद्यमान है जो यह बता रहा है कि यह कथन सर्वथा सत्य न होकर एक निश्चित अपेक्षा से ही सत्य है तथा वस्तु में इनके अतिरिक्त विशेषताएं भी हैं जिनसे सापेक्ष रूप से ही यह सत्य है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति का श्रुतज्ञान तभी यथार्थ हो सकता है जबकि वह यह

ध्यान रखे कि प्रत्येक कथन वस्तु के आंशिक स्वरूप का प्रतिपादक होने के कारण सत्यांश है तथा व्यक्ति का तद्विषयक ज्ञान तभी यथार्थ हो सकता है, जबकि वस्तु के परस्पर सापेक्ष सभी धर्मों को जानते हुए उसे सम्पूर्णतया जाना जाय। यदि व्यक्ति विभिन्न नयों द्वारा वस्तु के समस्त धर्मों को जान ले तथा उनकी पारस्परिक सापेक्षता के बोध पूर्वक एक वस्तु को न जान कर परस्पर निरपेक्ष अनेक धर्मों के समूह रूप एक वस्तु को जाने तो उसका ज्ञान मिथ्या ही होगा। साथ ही यदि व्यक्ति कुछ ही धर्मों को जानकर वस्तु के ज्ञान को पूर्ण मान ले तो उसे उस ज्ञान के अनुसार व्यवहार में प्रवृत्त होने पर लाभ के स्थान पर हानि ही होगी। इसलिये प्रत्येक वाक्य के पूर्व स्यात् पद के अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक है, जो उद्देश्य पद के अनेकान्तात्मक स्वरूप का द्योतक है, सामान्य रूप से वर्णित धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों का भी बोध कराता है। सामान्य रूप से पदार्थ की अनेक धर्मात्मकता का ज्ञान हो जाने मात्र से यह ज्ञात नहीं हो जाता कि वस्तु में कौन-कौन से विशेष धर्म हैं तथा वे एक-दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। यह बोध प्रारम्भ में क्रमिक रूप से एक-एक धर्म को जानकर सम्पूर्ण वस्तु को जान लेने के उपरान्त एक धर्म के अन्य धर्म सापेक्ष विशिष्ट स्वरूप को जानने के लिये प्रवृत्त होने पर ही हो सकता है। इसीलिये कहा गया है "श्रुत प्रमाण से वस्तु के एक-एक धर्म को जानते हुए उसके अनेकान्तात्मक स्वरूप को जानकर उसके एकांश के विशिष्ट स्वरूप को ग्रहण करने वाला ज्ञाता का अभिप्राय: नय है।[1]

जैसा कि हम कह चुके हैं श्रुतज्ञान तर्कणा रूप होता है। अर्थलिंगज श्रुतज्ञान में मतिज्ञान अथवा श्रुतज्ञान द्वारा जानी गयी वस्तुओं को विभिन्न रूप से व्यवस्थित करके विचार किया जाता है, जबकि शब्द लिंगज श्रुतज्ञान में शब्द प्रमाण के विभिन्न अंशों को सामने रख कर उनके वाच्य पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध के विचार पूर्वक वस्तु के एकांश के विशिष्ट स्वरूप को ग्रहण किया जाता है। यह शब्द की नियत अर्थ वाचक सामर्थ्य

----

1. लघीयस्त्रय, 73-74

का उल्लंघन करके नहीं होता । एक धर्म, धर्मी के अन्य धर्मों का अविनाभावी होता है - उनके सद्भाव में ही अस्तित्व रखता है, अभाव में नहीं तथा उसके वाचक शब्द के अर्थ में उसका यह अन्य धर्म सापेक्ष स्वरूप निहित होता है । शब्द लिंगज श्रुतज्ञान शब्द प्रमाण के उन सब अंशों को दृष्टि में रखते हुए जो विभिन्न परस्पर सापेक्ष धर्मों का वर्णन कर रहे हैं, वस्तु के एक धर्म के विशिष्ट स्वरूप का निर्णय करता है । उदाहरण के लिये शब्द प्रमाण का एक अंश वस्तु के नित्य पक्ष का वर्णन कर रहा है तथा दूसरा अंश उसके अनित्य अंश का वर्णन कर रहा है । वस्तु के ये दोनों पक्ष परस्पर सापेक्ष हैं तथा वस्तु के अनित्य पक्ष के विशिष्ट स्वरूप को उसके नित्य पक्ष को दृष्टि में रखते हुए ही समझा जा सकता है । यह ठीक है कि इस पक्ष के नित्य पक्ष सापेक्ष विशिष्ट स्वरूप का वर्णन हमें शब्द प्रमाण द्वारा उपलब्ध हो जाता है, लेकिन सदैव ही यह सम्भव नहीं होता जैसे जैन ग्रन्थों में मोक्षार्थी साधकके चरित्र के आन्तरिक पक्ष का वर्णन समय-सारादि ग्रन्थों में तथा बाह्य पक्ष का वर्णन तत्वार्थ सूत्र तथा अन्य ग्रन्थों में किया जाता है । यद्यपि ग्रन्थों में चरित्र के आन्तरिक पक्ष के उस विशिष्ट स्वरूप का ही वर्णन किया गया है जो उसके बाह्य पक्ष का सद्भाव होने पर ही हो सकता है तथा बाह्य पक्ष का वर्णन आन्तरिक अनुभूतियों की प्राप्ति हेतु तैयारी के रूप में ही किया गया है लेकिन इनके पारस्परिक सम्बंध का स्पष्ट विश्लेषण ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता । इन के अन्य सापेक्ष विशिष्ट स्वरूप का बोध दोनों को ग्रन्थों से क्रमिक रूप से पृथक पृथक जानकर ग्रन्थों के विभिन्न अंशों को सामने रखते हुए विचार पूर्वक ही जाना जा सकता है तथा दोनों के परस्पर समन्वित स्वरूप का बोध होने पर ही व्यक्ति का चरित्र सम्बन्धी ज्ञान प्रमाण होता है ।

श्रुतज्ञान द्वारा समग्र पदार्थ को उसके एक एक धर्म को क्रमिक रूप से जानते हुए ही जाना जा सकता है। समग्र का एक धर्म अपने आप में अस्तित्व न रखकर अपने अस्तित्व के लिये सम्पूर्ण पदार्थ पर आश्रित होता है। एकांश के रूप में यह जिस विशिष्ट स्वरूप से युक्त होता है, उस स्वरूप को वह उससे निरपेक्ष रूप से नहीं रख सकता। अतः उसके विशिष्ट स्वरूप को समग्रपदार्थ को जानने के उपरांत ही जाना जा सकता है। जैसे 2

समग्र के प्रति समझ में वृद्धि होती जाती है उसके एकांश के अधिक विशिष्ट स्वरूप को ग्रहण करने की सम्भावनाएं अधिक प्रखर होती जाती हैं, जिनके सद्भाव में व्यक्ति पदार्थ के अन्य पक्षों को सामने रख कर विचार पूर्वक वस्तु के एकांश के विशिष्ट स्वरूप को ग्रहण कर सकता है। व्यक्ति विषय के एकांश के विशिष्ट स्वरूप को कितना अधिक ग्रहण कर सकता है, इसका निर्धारण व्यक्ति द्वारा सैद्धान्तिक रूप से स्याद्वाद को स्वीकार कर लेने मात्र से नहीं हो जाता, अपितु व्यक्ति के श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का प्रखर सद्भाव होने पर उसके द्वारा विषय की गहराई में जाने हेतु किये गये प्रयत्नों की न्युनाधिक मात्रा के द्वारा होती है।

इस प्रकार शब्द लिंगज श्रुतज्ञान की उत्पत्ति व्यक्ति में भाषा की समझ होने पर उसके द्वारा आप्त पुरूष के वचनों को स्याद्वादनय संस्कृत रूप से ग्रहण करने पर होती है। वह शब्द प्रमाण द्वारा विषय के विशिष्ट स्वरूप को कितना अधिक स्पष्ट रूप से ग्रहण कर सकता है यह वर्णन की विशदता के साथ ही साथ व्यक्ति के श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम पर निर्भर करता है।

अनक्षरात्मक या अर्थलिंगज श्रुतज्ञान :-

जिस पदार्थ को चक्षुरादि इन्द्रियों अथवा शब्द प्रमाण द्वारा जान लिया गया है, उसका अवलम्बन लेकर उससे सम्बद्ध परोक्ष अर्थ का ज्ञान अर्थलिंगज श्रुतज्ञान है। अनुमान स्पष्टतया अर्थलिंगज श्रुतज्ञानका एक प्रकार है। यद्यपि तत्त्वार्थ सूत्र में अनुमान को मतिज्ञान का एक प्रकार माना गया है तथा श्रुतज्ञान के भेदों का उल्लेख करते समय शब्द प्रमाण के ही भेद बताये गये हैं,[1] लेकिन एक स्थान पर श्रुतज्ञान को "अस्पष्ट तर्कणा"[2] के रूप में भी परिभाषित किया गया है। इसलिये टीकाकार श्रुतज्ञान को शब्द प्रमाण तक ही सीमित नहीं मानते हुए भी इसके अन्य प्रकारों का स्पष्ट उल्लेख नहीं करते। षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों में अनुमान को मतिज्ञान के अन्तर्गत न मानकर अर्थलिंगज श्रुतज्ञान माना गया है। वीरसेन कहते हैं, "अवग्रह द्वारा ग्रहण

---

1. श्रुतं मति पूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदात् । तत्त्वार्थ सूत्र 1/20
2. श्रुतं अस्पष्ट तर्कणम् । तत्त्वार्थ सूत्र 9/43

किये गये पदार्थ से पृथगभूत लिंग जनित बुद्धि को श्रुतज्ञान कहा गया है।[1] "इसके दृष्टान्त देते हुए वे कहते हैं, "धूम के निमित्त से अग्नि का ज्ञान, नदीपूर के निमित्त से हुआ वृष्टि का ज्ञान, देशान्तर की प्राप्ति के निमित्त से उत्पन्न हुआ सूर्य का गमन विषयक ज्ञान - - - श्रुतज्ञान है।"[2]

अर्थ लिंगज श्रुतज्ञान मात्र अनुमान या निगमनात्मक तर्क तक ही सीमित नहीं है। अपितु चिन्तन या तर्कणा के द्वारा उत्पन्न हुआ समस्त ज्ञान इसके अन्तर्गत आता है। तत्वार्थ वार्तिक की ये पंक्तियाँ, 'एक "घट को इन्द्रिय तथा मन के द्वारा "यह घट है" इस प्रकार निश्चित करने के उपरान्त जो पहले नहीं जाने गये तज्जातीय तथा देशकालादि की दृष्टि से विलक्षण अनेक घड़ों को जानता है वह श्रुतज्ञान है, अथवा एक अर्थ का अनेक प्रकार से प्ररूपण करना श्रुतज्ञान है' आगमनात्मक तर्क अथवा किसी भी प्रकार की तर्कणा को, जिसके द्वारा पदार्थ के प्रति नवीन जानकारी प्राप्त हो रही हो, अर्थ लिंगज श्रुतज्ञान के अन्तर्गत रखती हैं।

मानवीय ज्ञान के संदर्भ में तर्कणा के स्वरूप और महत्व को समझने की दृष्टि से नार्मन एन मन के ये कथन दृष्टव्य हैं, " चिन्तन (तर्कणा) ज्ञानार्जन की एक उच्चस्तरीय प्रक्रिया है। चिन्तन हमारी अभी तक अर्जित की गयी जानकारियों के दायरे में सीमित होता है; लेकिन इसके द्वारा हम वस्तु के ऐसे पक्षों अथवा नवीन पदार्थों के बारे में जानते हैं जो पहले अज्ञात थे। किसी पदार्थ के प्रति किसी प्रकार की समस्या के समाधान के लिये व्यक्ति उस पदार्थ के बारे में उसे उपलब्ध सूचनाओं को विभिन्न प्रकार से संयोजित करता है तथा उनके द्वारा नवीन ज्ञान प्राप्त करता है। परमाणु वैज्ञानिकों ने चिन्तन की इसी सामान्य प्रक्रिया को अपना कर परमाणु विस्फोट के सिद्धान्त का आविष्कार किया था, तथा परमाणु विस्फोट के घटित होने से पूर्व ही उसकी उत्पत्ति की प्रक्रिया का पूर्वानुमान किया था।"[3]

---

1. धवला, पुस्तक-6, पृष्ठ-18
2. धवला, पुस्तक-13, पृष्ठ-210
3. Psycology. Page - 337

श्रुतज्ञान मतिश्रुतज्ञान पूर्वक होता है। हमें पदार्थ के सम्बन्ध में इन्द्रियानुभव और शब्द प्रमाण द्वारा जो सूचनाएं उपलब्ध होती हैं हम उन्हें एक प्रकार से संयोजित कर उसके निष्कर्षों पर विचार करते हैं तथा अवांछित परिणामों के प्राप्त होने पर उस संयोजन का परित्याग कर नवीन संयोजन का निर्माण करते हैं। यह प्रक्रिया अनुमान रूप ही है, क्योंकि विशेष सूचनाओं के द्वारा किसी निष्कर्ष की प्राप्ति की प्रक्रिया में सामान्य सिद्धान्त अथवा सूचनाओं के मध्य व्याप्ति सम्बन्ध अन्तर्निहित होता है। यह प्रक्रिया मतिज्ञान में ईहा के स्तर पर तथा शब्द प्रमाण में भी घटित होती है, लेकिन वहाँ यह विषय बोध का स्वतन्त्र साधन न होकर उसकी उत्पत्ति में सहायक मात्र है। मतिज्ञान में चिन्तन ऐन्द्रियिक प्रयत्नों के लिये दिशा निर्देशक होता है तथा शब्द प्रमाण में यह आप्त पुरुष के वचनों का अर्थ समझने में सहायता करता है। इसके विपरीत चिन्तन या शुद्ध मानसिक प्रक्रिया द्वारा ही किसी विषय के ज्ञात होने पर उसे अर्थलिंगज श्रुतज्ञान कहा जाता है। व्यक्ति का चिन्तनात्मक ज्ञान स्याडवादनय संस्कृत होने पर ही यथार्थ हो सकता है। यह ज्ञान कितना अधिक स्पष्ट और व्यापक हो सकता है यह व्यक्ति के मति, श्रुतज्ञान की व्यापकता तथा श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की प्रखरता पर निर्भर करता है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन :-

समस्त संसारी जीवों में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का अस्तित्व अनिवार्यतया पाया जाता है। मतिज्ञान का विषय अन्द्रियों से सम्बद्ध, वर्तमानकालीन और स्थूल पदार्थ होता है। इसके द्वारा पृथक-पृथक घटनाओं को ही जाना जा सकता है, जबकि श्रुतज्ञान इन्हें जानने के साथ ही साथ विभिन्न घटनाओं के मध्य विद्यमान सम्बन्ध, उनकी उत्पत्ति की व्याख्या, पदार्थों के सार्वभौमिक स्वरूप आदि को भी जानता है।

मानवीय संदर्भ में मति, श्रुतज्ञान दोनों ही विमर्शात्मक होते हैं। दोनों के विकास में अवग्रह, ईहा, अवाय तथा धारणा का क्रम पाया जाता है। इन दोनों में यह अन्तर है कि मतिज्ञान में ईहा के स्तर पर मन द्वारा दिये गये निर्देशों के अनुसार इन्द्रियों द्वारा अन्वेषण

किया जाता है तथा उनके द्वारा ही अवाय-वस्तु के विशेष स्वरूप निश्चित होता है। इसके विपरीत श्रुतज्ञान में यह प्रक्रिया पूर्णरूपेण मानसिक होती है।

मन रहित जीवों में श्रुतज्ञान ही मतिज्ञान पर आश्रित होता है, जबकि समनस्क प्राणियों, विशेषरूप से मनुष्यों में मतिज्ञान भी श्रुतज्ञान पर आश्रित होता है। तत्त्वार्थ सूत्र में श्रुतज्ञान को मतिपूर्वक कहा गया है।[1] इसे स्वीकार करने के साथ ही साथ नन्दी/सूत्र,[2] विशेषावश्यक भाष्य[3] आदि में मतिज्ञान के श्रुतनिश्रित तथा अश्रुतनिश्रित ये दो भेद किये गये हैं। श्रुतनिश्रित का अर्थ स्पष्ट करते हुए अभयदेव कहते हैं कि जो श्रुत के द्वारा निष्पन्न हो, श्रुत पर आश्रित हो वह श्रुतनिश्रित है। जो अवग्रहादि श्रुतज्ञान पूर्वक ही अथवा उसकी सहायता से ही अथवा उसकी अपेक्षा पूर्वक ही विषय को जानते हैं वे श्रुतनिश्रित मतिज्ञान हैं। श्रोत्रादि इन्द्रियों से उत्पन्न अथवा औत्पत्तिकी आदि बुद्धि रूप से उत्पन्न जो मतिज्ञान पूर्णरूपेण क्षयोपशम जन्य होते हैं तथा जिनमें श्रुतज्ञान का कोई योगदान नहीं होता वे अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान हैं। पूर्ववर्ती मतिज्ञान श्रुतज्ञान द्वारा परिकर्मित है तथा परवर्ती मतिज्ञान श्रुतातीत है।[4]

संज्ञी पचेन्द्रिय, विशेष कर मानवीय संदर्भ में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परस्पर कारण कार्य रूप से संबंधित हैं। श्रुतज्ञान की उत्पत्ति मतिज्ञान पूर्वक तथा मतिज्ञान का विकास श्रुतज्ञान पूर्वक होता है। किसी व्यक्ति के कथनों का आशय हम हमारे अनुभवों का अवलम्बन लेकर ही समझ सकते हैं तथा शब्द प्रमाण के द्वारा हम वस्तु के नये पक्षों को पहचानना सीखते हैं। मतिश्रुतज्ञान की इस परस्पराश्रितता के सिद्धान्त में अन्योन्याश्रय दोष नहीं है, अपितु ये बीजांकुर न्याय के एक-दूसरे को विकसित करते हैं।

---

1. तत्त्वार्थ सूत्र 1/20
2. नन्दी सूत्र 46
3. विशेषावश्यक भाष्य, पृष्ठ- 96
4. स्थानांग सूत्र, भाग-1 पृष्ठ-50

मतिज्ञान प्राथमिक होता है तथा उसी के धरातल पर श्रुतज्ञान की उत्पत्ति होती है। यह प्रारम्भिक स्तर पर अश्रुतनिश्रित ही होता है। एक बहुत छोटा बच्चा रूप, रसादि की सम्वेदनाएँ प्राप्त करता हुआ धीरे-धीरे उनके विशिष्ट स्वरूप को पहचानना सीखता है। इस स्तर पर मतिज्ञान का कारण ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम तथा पूर्वानुभव के संस्कार होते हैं। मतिज्ञान का यह विकास बहुत ही स्थूल होता है तथा उसमें स्पष्टता तथा व्यापकता श्रुतज्ञान पूर्वक ही आती है। एक बच्चे को विभिन्न सम्प्रत्यय समाज में रहते हुए अन्य व्यक्तियों के व्यवहार के निरीक्षण तथा प्रशिक्षण पूर्वक प्राप्त होते हैं। उसे अन्य व्यक्तियों द्वारा विभिन्न वस्तुओं को पहचानना सीखाया जाता है तथा इस प्रकार वह वस्तु को विशिष्ट और अधिक विशिष्ट स्वरूप में पहचानना सीखता है। उदाहरण के लिये एक बच्चे को एक इन्द्रिय विशेष से सन्निकृष्ट पदार्थ के रूप, आकारादि का मतिज्ञान अश्रुतनिश्रित रूप से होता है, लेकिन यह "यह वृक्ष है," "नीम का वृक्ष है" आदि रूप से वस्तु का प्रत्यक्ष करना परोपदेश पूर्वक ही सीखता है। किसी क्षेत्र विशेष में जैसे रोगी का प्रत्यक्ष करते समय अथवा किसी कलाकृति का प्रत्यक्ष करते समय एक सामान्य व्यक्ति और एक विशेषज्ञ के प्रत्यक्ष में व्यापक अन्तर होता है जिसका कारण व्यक्ति के आवरण कर्मों के क्षयोपशम में अन्तर के साथ ही साथ उनकी शिक्षा का अन्तर भी है। यदि किसी बच्चे का पालन पोषण मानवीय समाज से दूर रख कर किया जाय अथवा उसकी शिक्षा पर समुचित ध्यान नहीं दिया जाय तो उसके मतिज्ञान का विकास असम्भव है।

यद्यपि व्यक्ति के मतिज्ञान के विकास में शिक्षा का बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता है तथापि उसका समस्त ज्ञान प्रशिक्षण जन्य नहीं होता। उसमें बहुत से ज्ञान की क्षमता निरन्तर किसी कार्य को करते हुए, उपर्युक्त गुरूजनों की विनय, सेवा आदि से उत्पन्न होती है तथा शिक्षा द्वारा यह क्षमता उत्पन्न नहीं की जा सकती। इस प्रकार के मतिज्ञान के चार भेद हैं - औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी बुद्धि। किसी

परिस्थिति विशेष में जो बुद्धि विशेष क्षयोपशम होने पर स्वतः उत्पन्न हो तथा शास्त्राभ्यास, किसी क्रिया के निरन्तर सम्पादन आदि की अपेक्षा से रहित हो, उसे औत्पत्तिकी बुद्धि कहा जाता है। किसी विषय में जो योग्यता गुरू की विनय, सेवा आदि से उत्पन्न होती है, उसे वैनयिकी बुद्धि कहा जाता है, जो कार्य गुरू के उपदेश बिना किये जाते हैं उन्हें कर्म तथा जिन कार्यों के लिये प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है उन्हें शिल्प कहा जाता है। कर्म नित्य तथा शिल्प कादाचित्क होते हैं। इनके निरन्तर अभ्यास पूर्वक जो इनके प्रति नवीन ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे कर्मजा बुद्धि कहा जाता है। निरन्तर गमन करना परिणाम है। सुदीर्घ काल तक निरन्तर आलोचन पूर्वक जो विशिष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है अथवा एक अनुभवी व्यक्ति की विषय के प्रति विशिष्ट समझ पारिणामिकी बुद्धि कहलाती है।[1] इस प्रकार की क्षमता व्यक्ति में परोपदेश पूर्वक उत्पन्न नहीं की जा सकती, इसलिये इन्हें अश्रुतनिश्रित कहा जाता है। श्रुतनिश्रित तथा अश्रुतनिश्रित मति ज्ञान दोनों ही क्षयोपशम जन्य होते हैं, लेकिन श्रुतनिश्रित मतिज्ञान की उत्पत्ति इसका सद्भाव होने पर भी परोपदेश पूर्वक होती है, जबकि अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान परोपदेश निरपेक्ष होता है।

अवधि ज्ञान

अवधिज्ञानावरणीय और वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर इन्द्रिय, मन आदि किसी बाह्य पदार्थ की सहायता के बिना आत्म मात्र सापेक्ष रूप से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अवधि ज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा पूर्वक पुद्गल द्रव्यों को जानता है। व्यक्ति कितने अधिक व्यापक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अन्तर्गत आने वाले पुद्गल द्रव्यों को जान सकता है यह उसके अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम पर निर्भर करता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श वाले पुद्गल द्रव्यों की कुछ पर्यायों को जानने के अतिरिक्त अवधि ज्ञानी जीव के औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भावों को भी जान सकता है, क्योंकि इनसे पुद्गल कर्म का सम्बन्ध है। वह क्षायिक भाव और धर्म, अधर्म आदि अरूपी द्रव्यों को नहीं जानता।[2]

---

1. नन्दी सूत्र, हरिभद्र सूरि वृत्ति, पुष्ठ-47-48
2. तत्वार्थ वार्तिक, पृष्ठ - 326

अवधि ज्ञान के दो भेद हैं- भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। भव अर्थात् एक विशेष गति में जन्म ही जिसका कारण हो वह भव प्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है। देव, नारकी और चरमशरीरी (अन्तिम शरीर वाले) तीर्थंकरों में भवप्रत्यय अर्थात् जन्म से ही अवधिज्ञान होता है। यह अवधिज्ञान भी क्षयोपशम निमित्तक होता है पर इसमें एक विशेष गति में जन्म लेना ही अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम का कारण है। इसमें अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम समस्त आत्म प्रदेशों में उत्पन्न होता है। इसलिये इसे सर्वांग से उत्पन्न कहा जाता है।[1] गुण प्रत्यय अवधिज्ञान की उत्पत्ति सम्यग्दर्शनादि गुणों की अपेक्षा पूर्वक होने वाले अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होती है। यह पर्याप्त (सभी इन्द्रियों के निर्माण से युक्त) मनुष्यों और समनस्क तिर्यन्चों के उत्पन्न हो सकता है। यह नाभि से ऊपर के आत्म प्रदेशों में शंख, पदम्, स्वस्तिक आदि शुभ चिन्हों से युक्त आत्म प्रदेशों में स्थित ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है।[2]

गुण प्रत्यय अवधिज्ञान अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित अनवस्थित इन छः प्रकार का होता है। जो अवधिज्ञान सूर्य के प्रकाश की तरह पीछे पीछे भवान्तर तक साथ जाता है, वह अनुगामी है। जो अपने स्वामी का अनुगमन नहीं करता, वहीं रूक जाता है, वह अननुगामी है। जो अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन आदि गुणों की विशुद्धि के कारण पत्तों में लगी हुई आग के समान निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता है वह वर्धमान तथा जो ईंधन रहित अग्नि के समान निरन्तर कम होता रहता है वह हीयमान अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान तिल आदि चिन्हों के समान सदैव एक सा रहता है, न कम होता है न बढ़ता है, वह अवस्थित तथा जो कभी कम होता है कभी बढ़ता है वह अनवस्थित कहलाता है।[3]

---

1. गोम्मट सार-जीव काण्ड, गाथा - 371
2. गोम्मट सार-जीव काण्ड, गाथा - 370
3. तत्वार्थ वार्तिक, पृष्ठ - 321

मन: पर्यय ज्ञान :-

मन: पर्यय ज्ञान का शाब्दिक अर्थ है - मन की पर्यायों को जानने वाला ज्ञान। इसे परिभाषित करते हुए अकलंक कहते हैं - वीर्यान्तराय तथा मन: पर्यय ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने पर अपने और दूसरे के मन की अपेक्षा से होने वाला ज्ञान मन: पर्यय ज्ञान कहलाता है।[1] यह ज्ञान आत्म मात्र सापेक्ष होने के कारण प्रत्यक्ष है। इसे अपने मन की अपेक्षा से कहने का तात्पर्य मात्र यह है कि वहां के आत्म प्रदेशों में मन: पर्ययज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है। जैसे चक्षु में अवधि ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर चक्षु की अपेक्षा होने मात्र से अवधि ज्ञान को मतिज्ञान नहीं कहते, उसी प्रकार मन: पर्ययज्ञान भी मतिज्ञान नहीं है क्योंकि वह इन्द्रिय और मन से उत्पन्न नहीं होता। यह ज्ञान अन्य व्यक्ति के मन का विषय बन रहे पदार्थ को जानता है। जैसे आकाश में चन्द्रमा को देखने के लिये आकाश साधारण सा निमित्त है, वह चन्द्र ज्ञान का उत्पादक कारण नहीं है उसी प्रकार पर का मन मन: पर्ययज्ञान का साधारण सा आधार है, वह उसका उत्पादक नहीं है।[2] वीरसेन कहते हैं "दूसरे व्यक्ति के मन में स्थित पदार्थ मन कहलाता है। उसकी पर्यायें अर्थात् विशेषों को मन:पर्यय कहते है। उनको जो ज्ञान जानता है वह मन: पर्यय ज्ञान है।[3]

मन:पर्यय ज्ञान अवधिज्ञान के समान स्वमुख से पदार्थों को नहीं जानता, अपितु अन्य व्यक्ति के मन के माध्यम से जानता है। मन: पर्ययज्ञान का विषय चिन्तित, अर्ध चिन्तित और अचिन्तित पदार्थ होते हैं। यह ज्ञान मनुष्य क्षेत्र ‡पृथ्वी‡ के भीतर स्थित समनस्क प्राणियों के द्वारा चिन्तित-जिसका भूतकाल में चिन्तन किया था, अचिन्तित - जिसका आगामी काल में चिन्तन किया जायेगा तथा अर्धचिन्तित-जिसका पूर्ण रूप से चिन्तन नहीं किया, गया पदार्थों को जानता है।[4] यह ज्ञान दूसरे के मन में

---

1. तत्वार्थ वार्तिक, पृष्ठ-84
2. तत्वार्थ वार्तिक, पृष्ठ -323
3. धवला, पुस्तक-6, पृष्ठ-28
4. गोम्मट सार-जीव काण्ड, गाथा- ४३८

स्थित संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान) स्मृति, चिन्ता (तर्क), मति आदि को तथा जीवों की जीवन, मरण, सुख, दुःख तथा नगर आदि का विनाश, अतिवृष्टि, सुवृष्टि, दुर्भिक्ष, सुभिक्ष, क्षेम, अक्षेम आदि पदार्थों को जानता है।[1]

मनः पर्यय ज्ञान विशिष्ट वर्धमान चरित्र के धारक, ऋद्धिधारी छटे गुणस्थान तथा उससे ऊपर के गुणस्थानों में स्थित महामुनियों के ही होता है।[2]

मनः पर्ययज्ञान के भेद - मनः पर्ययज्ञान के दो प्रकार हैं - ऋजुमति मनः पर्यज्ञान तथा विपुलमति मनः पर्यय ज्ञान। ऋजु शब्द का अर्थ है - सरल। जो पदार्थ जिस प्रकार से स्थित है उसका उसी प्रकार से चिन्तन करने वाला मन, उसका उसी प्रकार से ज्ञापन करने वाला वचन तथा उसका उसी प्रकार से अभिनय करके दिखाने वाला काय इस प्रकार सरल मन, वचन और काय की क्रियाएं जिस मन का विषय हैं उस मन की पर्यायों को जानते वाला ज्ञान ऋजुमति मनः पर्ययज्ञान है। सरल मन के साथ ही साथ कुटिल मन, वचन और काय के द्वारा किया गया जो अर्थ दूसरे के मन में स्थित है उसको जानने में सक्षम ज्ञान विपुलमति मनः पर्यय ज्ञात है।[3]

केवल ज्ञान :-

चार घातिया कर्मों - ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय का पूर्णरूपेण क्षय होने पर उत्पन्न होने वाला ज्ञान केवलज्ञान कहलाता है।[4] आत्मा स्वभावतः अनन्त ज्ञान सामर्थ्य से युक्त है, इसलिये समस्त प्रतिबन्धकों के पूर्णरूपेण नष्ट हो जाने पर वह समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को युगपत् जानता है।[5]

चार घातिया कर्मों, जो आत्मा की शक्तियों को लुप्त करती हैं, के समूल नाश हो जाने पर जीव का केवलज्ञान स्वभाव प्रकट हो जाता है जिसके फलस्वरूप वह

---

1. धवला, पुस्तक-13; पृष्ठ -332
2. गोम्मट सार-जीव काण्ड; गाथा-443
3. गोम्मट सार जीव काण्ड; पृष्ठ -665
4. तत्वार्थ वार्तिक; पृष्ठ-339
5. तत्वार्थ सूत्र 1/29

प्रतिक्षण समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को युगपत् जानता है तथा किसी भी क्षणज्ञानरहित नहीं होता। कुन्दकुन्द कहते हैं, " केवल ज्ञान समस्त द्रव्यों की विद्यमान - अविधमान समस्त पर्यायों को तात्कालिक पर्याय की भाँति विशिष्टता पूर्वक अपने भिन्न-भिन्न स्वरूप में जानता है। इसकी व्याख्या करते हुए अमृतचन्द्र कहते हैं - " जिस प्रकार एक अल्प जीव को एक भूतकालवर्ती पदार्थ का ज्ञान भूत-कालवर्ती रूप से, वर्तमान कालवर्ती पदार्थ का ज्ञान वर्तमानकालवर्ती रूप से और भविष्य कालवर्ती पदार्थ का ज्ञान भविष्य कालवर्ती रूप से होता है; उसी प्रकार सर्वज्ञ को भी सभी द्रव्यों की भूत, भविष्य, वर्तमानकालीन पर्यायें भूत, भविष्य, वर्तमान कालीन रूप से ही ज्ञातहोती हैं। एक ही वस्तु की भूत, भविष्य, वर्तमान कालीन पर्यायों का भूत, भविष्य, वर्तमान कालीन रूप से युगपत् ज्ञान असिद्ध नहीं है। एक अल्पज्ञ व्यक्ति को भी "यह वही है" रूप प्रत्यभिज्ञान होता है, जिसमें वस्तु की भूतकालीन और वर्तमानकालीन पर्याय का उस रूप से ज्ञान होता है।"[1]

सर्वज्ञता के सम्प्रत्यय के प्रतिअनेक प्रकार की आपत्तियाँ उठायी जाती हैं। पहली आपत्ति अतीन्द्रिय ज्ञान मात्र की सत्ता से सम्बन्धित है। इस पर हम पिछले अध्याय में विचार कर चुके हैं। सर्वज्ञता के सम्बन्ध में एक आपत्ति यह की जाती है कि एक समय में एक ही पदार्थ का ज्ञान हो सकता है, अनेक पदार्थ एक साथ एक ज्ञान का विषय नहीं हो सकते, तब अनन्त पदार्थों को युगपत् जानने वाली सर्वज्ञता किस प्रकार सम्भव हो सकती है? जैन दार्शनिक कहते हैं कि यदि अनेक पदार्थ एक साथ एक ज्ञान का विषय नहीं बन सकते हों तो विभिन्न पदार्थों के मध्य तुलना, संशय आदि सम्भव नहीं हो सकते। एक साथ पांच अंगुलियों का ज्ञान, अनेक व्यक्तियों का ज्ञान आदि सर्व प्रसिद्ध हैं। जब एक सामान्य व्यक्ति एक ही ज्ञान द्वारा अनेक वस्तुओं को जान सकता है तो अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा अनन्त द्रव्यों को उनके पूर्णरूपेण वैशिष्ट्य के साथ युगपत् क्यों नहीं जान सकता।

----

1. प्रवचन सार, पृष्ठ-53

ज्ञान के दो भेद किये जा सकते हैं :- §1§ किसी वस्तु के स्वरूप को जानना तथा §2§ किसी कौशल को जानना। किसी वस्तु के स्वरूप का ज्ञान वर्णनात्मक ज्ञान होता है। हम किसी वस्तु के स्वरूप को जानते हैं इसका अभिप्राय: यह है कि हम यह बता सकते हैं कि उसमें कौन-कौन सी विशेषताएँ हैं। किसी कौशल के ज्ञान में उसका क्रियात्मक पक्ष भी निहित रहता है। हम किसी कौशल, जैसे - संगीत को जानते हैं, यह तभी कहा जा सकता है जबकि हम गा सकने में सक्षम हों। यदि हम संगीत की बहुत सी विशेषताओं का वर्णन कर दें - यह बता दें कि इसमें कौन-कौन से स्वर हैं, किन स्वरों के द्वारा कौन सी राग निर्मित होती है आदि लेकिन स्वयं गाना नहीं जानते हों तो यह नहीं कहा जा सकता कि हमें संगीत का ज्ञान है। इस कौशल का ज्ञान शरीर से संयुक्त होने पर ही सम्भव है। सर्वज्ञ शरीर रहित होते हैं इसलिये उन्हें किसी कौशल का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है, यदि नहीं हो सकता तो उसे सर्वज्ञ किस प्रकार कहा जा सकता है?

यदि हम इस आपत्ति पर थोड़ा गहराई से विचार करें तो हम पाते हैं कि सर्वज्ञ को मात्र "क्या है" आकार का ज्ञान नहीं होता अपितु "कैसे" अथवा कौशल का ज्ञान भी होता है। इसे हम एक दृष्टान्त द्वारा समझने का प्रयास करें। एक श्रेष्ठ संगीतज्ञ का, जो पूर्व में एक श्रेष्ठ गायक भी रहा है, किसी कारणवश गला खराब हो जाता है तथा वह गाने में अक्षम हो जाता है। वह अब भी विभिन्न स्वरों के मध्य स्थित अन्तर को जानता है, विभिन्न रागों का स्वरूप क्या है तथा उन्हें किस प्रकार गाया जाता है, यह जानता है तथा अन्य व्यक्ति के गायन के गुण-दोषों का विश्लेषण कर सकता है। अब उसमें संगीत का ज्ञान स्वीकार किया जायेगा अथवा नहीं यदि अब उसमें संगीत का ज्ञान स्वीकार नहीं किया जाय तो गले के पूरी तरह से ठीक हो जाने पर भी उसमें गाने की क्षमता नहीं होनी चाहिये। वास्तव में किसी कौशल को तभी ज्ञातकहा जा सकता है जबकि ज्ञाता उसे क्रिया रूप से परिणत करने में सक्षम हो। इसका आशय मात्र यही है कि व्यक्ति यह जानने के साथ ही साथ कि

---

1. प्रवचन सार, पृष्ठ-53

यह किस प्रकार की कला है, इसमें कौन-कौन सी विशेषताएं हैं, यह भी जानता है कि इस क्रिया के कौन-कौन से उपकरण हैं तथा उन उपकरणों को किस प्रकार से काममें लाते हुए इस क्रिया को सम्पादित किया जाता है; और यदि वे समस्त उपकरण उसके पास हों तो वहउस क्रिया को करने में सक्षम है। ये विशेषताएं सर्वज्ञ में होती हैं। वह विभिन्न कला कौशलों के वर्णनात्मक पक्ष को ही नहीं क्रियात्मक पक्ष को भी जानता है, तथा यदि उस क्रिया के समस्त उपकरण उसके पास हों तो वह उन्हें कार्य रूप में परिण कर सकने में सक्षम है।

सर्वज्ञ के सम्बन्ध में एक समस्या यह है कि सर्वज्ञ वह है जो समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जानता है। द्रव्य अनन्त हैं तथा काल के अनादि अनन्त होने के कारण उनकी पर्यायें अनन्तानन्त हैं। अनन्त को "अनन्त" रूप से तो जाना जा सकता है, लेकिन "समस्त" रूप से नहीं जाना जा सकता। यदि सर्वज्ञ "समस्त" को जानता है तो वह एकनिश्चित सीमा के अन्तर्गत आ जाता है; तब उसे अन्त रहित, जो कभी समाप्त न हो, किस प्रकार कहा जा सकता है? जैन दार्शनिक अनन्तों में परिमाणात्मक अन्तर स्वीकार करते हुए कहते हैं कि यद्यपि विश्व के द्रव्य तथा उनकी पर्यायें अनन्त हैं लेकिन केवल ज्ञान की सामर्थ्य अनन्तानन्त है। उसमें इस लोक में विद्यमान अनन्त द्रव्यों की अनन्तानन्त पर्यायों को जानने की सामर्थ्य ही नहीं है अपितु ऐसे अनन्त लोकों के समस्त द्रव्यों को जानने की सामर्थ्य है। भले ही केवल ज्ञान में कितनी ही सामर्थ्य हो लेकिन अनन्त पदार्थों को सम्पूर्णत: जानने का सिद्धान्त अन्तर्विरोध से युक्त है, क्योंकि अनन्त को सम्पूर्णत: कभी नहीं जाना जा सकता। उदाहरण के लिये द्रव्य की पर्यायें काल विशेष में अस्तित्व रखती हैं तथा काल अनादि अनन्त होता है, वह न तो कभी प्रारम्भ हुआ है और न ही कभी समाप्त होगा। सर्वज्ञ यदि द्रव्य की समस्त पर्यायों को जानता है तो वह उन्हें सामान्यतया अनन्त रूप से ही जान सकता है। यदि वह द्रव्य की समस्त पर्यायों को प्रत्येक को उसके पूर्णरूपेण विशिष्ट स्वरूप में जानते हुए जानता है तो यह तभी सम्भव हो सकता है, जबकि कोई पर्याय प्रथम तथा कोई अन्तिम हो। किसी भी पर्याय को प्रथम पर्याय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि काल तथा द्रव्य

के अनादि होने के कारण प्रत्येक पर्याय के पूर्व अनन्त पर्यायों का अस्तित्व होगा। यही समस्या अन्तिम पर्याय के प्रति भी होगी। जब अनन्त में प्रथम और अन्तिम हो ही नहीं सकता तो उसे सम्पूर्णतः/ज्ञात किस प्रकार जाना जा सकता है?

उपर्युक्त पांच ज्ञानों में से मतिश्रुतज्ञान की शक्ति रूप से सत्ता समस्त संसारी जीवों में पायी जाती है। इसके साथ ही उनमें अवधि ज्ञान अथवा मनः पर्यय ज्ञान अथवा दोनों का भी अस्तित्व हो सकता है। शक्ति रूप से एकाधिक ज्ञान की युगपत् सत्ता होने पर भी व्यक्ति एक समय में एक ही ज्ञान के द्वारा विषय को जान सकता है तथा वह ज्ञान स्वभावी होने के कारण सदैव किसी न किसी ज्ञान रूप से परिणमन करता रहता है। मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्यय ज्ञान क्षायोपशामिक ज्ञान हैं। ज्ञानावरणीय कर्म का पूर्ण रूपेण क्षय होने पर ये चारों ज्ञान समाप्त हो जाते हैं तथा आत्मा एक ज्ञान केवल-ज्ञान स्वरूप होकर निरन्तर समस्त द्रव्यों को सम्पूर्णतः जानता रहता है।

अध्याय – छः

ज्ञान की प्रमाणिकता का स्वरूप

ज्ञान दो प्रकार का होता है – यथार्थ और अयथार्थ । वस्तु को यथाअवस्थित रूप में – जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप में जानने वाला ज्ञान यथार्थ तथा अन्य अयथार्थ कहलाता है । इन्हें क्रमशः प्रमा और अप्रमा कहा जाता है । संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय अप्रमा के अन्तर्गत आते हैं ।

ज्ञान आत्मा का स्वभाव है । वह अपनी विशुद्ध अवस्था में आत्म मात्र सापेक्ष रूप से विषय को सदैव यथार्थतः ही जानता है । अतः अवधि, मनः पर्यय और केवलज्ञान आत्म मात्र सापेक्ष ज्ञान हैं तथा निर्दोष कारण जन्य होने के कारण सदैव यथार्थ रूप से ही उत्पन्न होते हैं । मति और श्रुत ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता तथा प्रकाश, उपदेशादि अन्य बाह्य कारणों के सद्भाव में विषय को जानते हैं । इन कारणों के दोष युक्त होने पर, जैसे-इन्द्रियों के रोगादि दोषों से युक्त होने पर तथा इनका समुचित सद्भाव नहीं होने पर ये ज्ञान अयथार्थ भी होते है । ज्ञाता के ज्ञानावरणीय कर्म के उदय रूप दोष से युक्त होने, इन्द्रियादि कारणों के दोषयुक्त होने तथा ज्ञान के समुचित कारणों का अभाव होने के कारण ऐन्द्रियिक ज्ञान के क्षेत्र में ही संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय की उत्पत्ति होती है ।

वस्तु के प्रति द्विकोटिक ज्ञान "यह स्थाणु है या पुरूष" संशय कहलाता है । जो वस्तु का स्वरूप नहीं है उस रूप में उसका निश्चय करने वाला ज्ञान, जैसे – स्थाणु को पुरूष समझ लेना, भ्रम (विपर्यय) कहलाता है । अनध्यवसाय में वस्तु के स्वरूप के प्रति अनिश्चयात्मक स्थिति होती है । जैसे रास्ते में जाते हुए पैरों से तिनकों का स्पर्श होने पर 'कुछ है,' इस प्रकार की प्रतीति होना, इसमें यह बोध नहीं होता कि वस्तु क्या है । इन तीनों प्रकार के ज्ञान में या तो वस्तु के प्रतिनिश्चय का अभाव होता

है अथवा विपरीत निश्चय होता है, इसलिये ये अप्रमा कहलाते हैं । संशय और अनध्यवसाय की अयथार्थता का बोध उनकी उत्पत्ति के साथ ही हो जाता है लेकिन भ्रमात्मक ज्ञान प्रारम्भ में यथार्थ ज्ञान के समान ही निश्चयात्मक रूप से ज्ञात होता है तथा उसकी भ्रमात्मकता का बोध कालान्तर में अन्य ज्ञान से बाधित होने पर होता है । ऐन्द्रियिक ज्ञान के भ्रमात्मक होने की सम्भावना यह समस्या उत्पन्न करती है कि यथार्थ ज्ञान और भ्रमात्मक ज्ञान में अंतर किस प्रकार किया जाय, यह निश्चय किस प्रकार किया जाय कि वस्तु जिस रूप मे ज्ञात हो रही है, वास्तव में वह उसी रूप में अवस्थित है या अन्य रूप में । इस समस्या पर विचार करने से पूर्व हम जैन दार्शनिकों के प्रमा के स्वरूप से सम्बन्धित विचारों का अध्ययन करेंगे ।

प्रमा का स्वरूप :-

जैन दर्शन में प्रमा को ही प्रमाण कहा गया है क्योंकि वही वस्तु के स्वरूप के निश्चय तथा उसके प्रति अज्ञान की निवृत्ति का साधकतम कारण है । प्रमाण को परीक्षा मुख सूत्र में "स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान" के रूप में परिभाषित किया गया है ।[1] इस परिभाषा में विद्यमान "अपूर्व" पद विवादास्पद होते हुए भी शेष "स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण है "जैन दर्शन मे सर्वमान्य है । इस परिभाषा में "स्व" और "अर्थ" ज्ञान की स्वसम्वेदनता और परसम्वेदनता के द्योतक हैं । जिस पदार्थ को पहले नहीं जाना गया है वह "अपूर्व" है । "व्यवसायात्मक" के द्वारा संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय की यथार्थता का निषेध किया जा रहा है । इनसे रहित रूप से अर्थ के स्वरूप का निश्चय करने वाला स्वसम्वेदी ज्ञान प्रमाण है । इस परिभाषा में विद्यमान "अपूर्व" पद जैन दार्शनिकों के मध्य विवादास्पद रहा है तथा अधिकांश आचार्यों द्वारा प्रमाण की परिभाषा "स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण है" ही स्वीकार की गयी है ।

---

1. परीक्षा मुख सूत्र 1/1

प्राय: जैनेत्तर भारतीय दार्शनिक स्मृति को भी अप्रमा मानते हैं तथा इसे प्रमा से पृथक् करने के लिये प्रमा के लक्षण में "अनधिगत" , अगृहीतग्राही", "अज्ञातार्थ प्रकाशक" जैसे विशेषण शामिल करते हैं । जैन दार्शनिक स्मृति को अप्रमा नहीं मानते । प्रभाचन्द्र स्मृति में प्रमात्व की सिद्धि करते हुए कहते हैं कि सभी ज्ञान अविसंवादक होने पर प्रमा होते है तथा जिसमें जहाँ विसंवाद की प्राप्ति होती है उसे वहाँ अयथार्थ कहा जाता है । यह बात स्मृति पर भी लागू होती है । यदि स्मृति को प्रमाण नहीं माना जाय तो अनुमान सम्भव ही नहीं हो सकता क्योंकि वह हेतु और साध्य के मध्य पूर्व में निश्चित किये गये व्याप्ति सम्बन्ध के स्मरणपूर्वक होता है ।[1]

स्मृति हमारे समस्त ज्ञान और प्रवृत्ति की आधारशिला है तथा इसे अयथार्थ कहने पर किसी भी ज्ञान को यथार्थ कहना सम्भव नहीं है । हमारा समस्त नवीन ज्ञान पूर्वानुभव के धरातल पर ही उत्पन्न होता है । यदि पूर्वानुभव के संस्कारों से उत्पन्न होने के कारण स्मृति को अप्रमा कहा जाय तो प्रत्यक्ष, अनुमानादि समस्त ज्ञानों में उसका प्रभाव रहने के कारण किसी भी ज्ञान को प्रमा नहीं कहा जा सकता । यदि स्मृति को अयथार्थ माना जाय तो प्रत्यक्षादिसमस्त ज्ञानों में प्रमा-अप्रमा रूप भेद किया जाना सम्भव नहीं है । ये क्षणिक होते हैं तथा इन्हें स्वत: प्रामाण्यवाद को स्वीकार करके ही यथार्थ कहा जा सकता है, लेकिन ऐसी स्थिति में प्रमा और भ्रम में अंतर नहीं किया जा सकता । यदि परत: प्रामाण्यवाद को स्वीकार किया जाय तो किसी ज्ञान को यथार्थ कहा ही नहीं जा सकता क्योंकि वे उत्पत्ति के साथ ही नष्ट हो जाते हैं तथा कालान्तर में उनकी स्मृति ही शेष रहती है जो स्वरूपत: अयथार्थ होती है । वास्तव में प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा ज्ञानार्जन का महत्त्व तथा उपयोगिता कालांतर में उनकी स्मृति रहने पर ही हो सकती है, क्योंकि ये क्षणिक होने के कारण भविष्य में स्मृति के रूप में ही अस्तित्व

---

1. न्याय कुमुद चन्द्र , पृष्ठ-410-411

रख सकते हैं तथा उसी के द्वारा हम व्यवहार में प्रवृत्त होकर अर्थ-क्रियासमर्थ वस्तु को प्राप्त कर सकते हैं ।

अकलंक अष्टशती में प्रमाण को "अनधिगतार्थ ग्राही अविसंवादी ज्ञान" के रूप में परिभाषित करते है ।[1] तथा उनका अनुसरण करते हुए माणिक्यनन्दी प्रमाण के लक्षण में "अपूर्व" विशेषण को शामिल करते हैं । इस लक्षण के द्वारा वे स्मृति के प्रमात्व का निषेध नहीं करते अपितु धारावाहिक ज्ञान के उत्तरवर्ती क्षणों के ज्ञान को, जिनमें प्राथमिक क्षणों द्वारा जान लिये गये पदार्थ की कोई नयी विशेषता नहीं जानी जा रही हो, अप्रमाण के क्षेत्र में रखते है । यदि वह ज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा के क्रम से विकसित हो रहा हो तो अवाय और धारणा को गृहीत-ग्राही नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे अवगृहीत पदार्थ और उसके विशिष्ट स्वरूप को जानते है । धारावाहिक ज्ञान के प्रारम्भिक क्षणों में जिस पदार्थ को घट रूप से जान लिया गया है परवर्ती क्षणों में उसे निरन्तर इसी रूप में जाना जाता है । उनमें प्रथम क्षणों के ज्ञान की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं होने के कारण धारावाहिक ज्ञान अप्रमाण ही है ।[2]

यद्यपि प्रमाण का महत्त्व अनिश्चित अर्थ को अथवा निश्चित अर्थ के अनिश्चित पक्ष को जानने में है तथा जिस पदार्थ को उच्चस्तरीय प्रमाण, जैसे -प्रत्यक्ष से जान लिया गया है उसके प्रति अनुमान, शब्दादि निम्नस्तरीय प्रमाण निरर्थक हैं । "अनधिगत" विशेषण का यह महत्त्व होते हुए भी किसी ज्ञान को गृहीतग्राही होने मात्र से अयथार्थ नहीं कहा जा सकता । इसलिये अकलंक, अष्टशती में "अनधिगतता" को प्रमाण के लक्षण में शामिल करने पर भी स्वयं ही उसका खण्डन करते हुए कहते हैं- "प्रमाण का लक्षण अपूर्वाधिगम ठीक नहीं है---------क्योंकि जैसे अंधकार मे रखे हुए

---

1. अष्टशती-अष्टसहस्त्री पृष्ठ-175
2. प्रमेय रत्न माला, पृष्ठ-22
3. तत्वार्थ वार्तिक-पृष्ठ-56

पदार्थों को दीपक तत्काल ही प्रकाशित कर देता है फिर भी वह बाद में भी प्रकाशक ही कहलाता है । पदार्थों को निरन्तर प्रकाशित करते रहने के कारण उसे परवर्ती क्षणों में अप्रकाशक नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन क्षणों मे दीपक द्वारा प्रकाशित करने पर ही पदार्थों की अवस्थिति का बोध होता है, उसी प्रकार ज्ञान भी घटादि पदार्थों का अवभासक होकर प्रमाण कहलाने के बाद "प्रमाण" इस नाम को छोड नहीं देता ।[1]

हेमचन्द्र गृहीतग्राही ज्ञान को अप्रमाण मानने के सिद्धांत की पूर्णरूपेण निरर्थकता को सिद्ध करते हुए कहते हैं, " द्रव्यापेक्षया गृहीतग्राही ज्ञान के प्रामाण्य का निषेध किया जाता है या पर्यायापेक्षया, यदि द्रव्यापेक्षया गृहीतग्राही ज्ञान को अप्रमाण कहा जाय तो यह उचित नहीं है क्योंकि द्रव्यापेक्षया सभी ज्ञान गृहीत ग्राही होते हैं, यदि पर्यायापेक्षया गृहीत ग्राही ज्ञान को अप्रमाण कहा जाय तो यह भी उचित नहीं है क्योंकि पर्याय के क्षणिक होने के कारण प्रत्येक ज्ञान नवीन अर्थ को ग्रहण करने वाला होता है ।[2] इस प्रकार ज्ञान गृहीतग्राही हो या अगृहीतग्राही संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित तथा वस्तु के यथाअवस्थित स्वरूप का ग्रहण करने वाला होने पर ही यथार्थ होता है ।

ज्ञान विषय के स्वरूप को यथार्थतः ग्रहण कर रहा है अथवा नहीं, इसके निश्चय का एकमात्र आधार उसका व्यवहार में अविसंवादी सिद्ध होना है । अकलंक कहते हैं "प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि समस्त ज्ञान व्यवहार में अविसंवादी सिद्ध होने पर प्रमाण अन्यथा अप्रमाण कहे जाते हैं ।"[3] व्यवहार अर्थ, अभिधान और प्रत्ययात्मक होता है ।[4] वचनों में पूर्वापर विरोध वचनात्मक व्यवहार में विसंवाद तथा एक ज्ञान का अन्य प्रमाणों से विरोध प्रत्ययात्मक व्यवहार में विसंवाद है । ज्ञान का अनुसरण कर अर्थ प्राप्ति हेतु की गयी प्रवृत्ति

1. तत्वार्थ वार्तिक - पृष्ठ - 56
2. प्रमाण मीमांसा, पृष्ट-4
3. लघीयस्त्रय, श्लोक-25
4. लघीयस्त्रय स्ववृत्ति. श्लोक 42

में सफलता अर्थात्मक व्यवहार में अविसंवाद तथा असफलता अर्थात्मक व्यवहार में विसंवाद है ।

प्रश्न उठता है कि " यदि ज्ञान वस्तु जैसी है उसे उसी रूप में जाने तभी यथार्थ होता है अन्यथा अयथार्थ", यथार्थ ज्ञान के इस स्वरूप के आधार पर सीधे सीधे यही कहा जाना चाहिये कि जो ज्ञान अर्थ से संवाद रखता है वह प्रमा तथा जो विसंवाद रखता है वह अप्रमा है, प्रमा का लक्षण व्यवहार में अविसंवादी ज्ञान देने की क्या आवश्यकता है ?

ज्ञान को व्यवहार में अविसंवादी होने पर ही प्रमा कहने का कारण यह है कि ज्ञान ही विषय प्रकाशक होता है । हम ज्ञान से स्वतंत्र रूप से विषय का साक्षात्कार करके यह निश्चय नहीं कर सकते कि ज्ञान विषय को यथार्थतः प्रकाशित कर रहा है अथवा नहीं । इसका निश्चय ज्ञान में ही आन्तरिक संगति की प्राप्ति के आधार पर किया जा सकता है । प्रत्येक वस्तु के अपने निश्चित गुण, शक्तियाँ और उपयोगिताएँ होती हैं । हम जिस वस्तु को जान रहे हैं उसे यथार्थतः जान रहे हैं अथवा नहीं, यह संशय होने पर उस ज्ञान के अनुसार प्रवृत्त होकर अर्थ की प्राप्ति होने या न होने के आधार पर उसकी यथार्थता अयथार्थता का निश्चय किया जा सकता है । उदाहरण के लिये सामने स्थित पदार्थ के प्रति "यह जल है" यह निश्चय होने पर यदि हमें इस बोध की यथार्थता के प्रति किसी प्रकार का संशय हो तो हम जल को छूकर, पीकर, स्नानादि के द्वारा उसकी सत्यता का परीक्षण कर सकते हैं । यदि उसे छूने, पीने आदि पर जल में विद्यमान स्पर्श की, स्वाद की अनुभूति होती है, प्यास बुझती है तो हम हमारे जल ज्ञान को यथार्थ अन्यथा अयथार्थ स्वीकार करते हैं । लेकिन स्वाद की अनुभूति आदि भी तो ज्ञान ही हैं तथा वे भी अयथार्थ हो सकते हैं, तब उनसे विरूद्धता अविरूद्धता के आधार पर पूर्ववर्ती ज्ञान को यथार्थ अयथार्थ किस प्रकार कहा जा सकता है ? इस समस्या पर विचार करने के

लिये हम जैन दार्शनिकों के प्रामाण्यवाद से संबंधित विचारों का अध्ययन करें ।

ज्ञान की प्रामाणिकता के निश्चय का आधार -

भारतीय दर्शन में ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य के संबंध में दो दृष्टियों से विचार किया गया है- उत्पत्ति की दृष्टि से तथा ज्ञप्ति की दृष्टि से । इन दोनों ही दृष्टियो से प्रामाण्य और अप्रामाण्य के सम्बंध में दो मान्यताएँ हैं - स्वत: प्रामाण्यवाद तथा स्वत: अप्रामाण्यवाद और परत: प्रामाण्यवाद तथा परत: अप्रामाण्यवाद । इनके प्रति उत्पत्ति और ज्ञप्ति की अपेक्षा भिन्न-भिन्न सिद्धान्त स्वीकार किये जा सकते हैं । उत्पत्ति की अपेक्षा प्रामाण्य-अप्रामाण्य को स्वत: कहने का अभिप्राय है कि जिन कारणों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है उन्हीं से उनके प्रामाण्य या अप्रामाण्य की भी उत्पत्ति होती है तथा जब ज्ञान के कारणों से भिन्न कारणों के द्वारा प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य की उत्पत्ति स्वीकार की जाती है तब उन्हें परत: कहा जाता है । ज्ञान के ज्ञात होने के साथ ही उसके प्रामाण्य अप्रामाण्य का ज्ञान होने पर उन्हे ज्ञप्ति की अपेक्षा स्वत: तथा एक ज्ञान की यथार्थता अयथार्थता के अन्य ज्ञान द्वारा ज्ञात होने पर उन्हे ज्ञप्ति की अपेक्षा परत: कहा जाता है । कुछ दार्शनिक प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वत:, कुछ दोनों को परत: तथा कुछ एक को स्वत: अन्य को परत: स्वीकार करते हैं । जैन दार्शनिक प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों को ज्ञप्ति की अपेक्षा अभ्यस्त दशा में स्वत: तथा अनभ्यस्त दशा में परत: स्वीकार करते हैं ।

नैयायिक कहते हैं कि ज्ञान में प्रामाण्य अप्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति परत: होती है । ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रियों से होती है । इन्द्रियों में विद्यमान निर्मलता आदि गुण ज्ञान में यथार्थता की तथा रोगादि दोष अयथार्थता की उत्पत्ति करते हैं । ज्ञान की यथार्थता अयथार्थता का ज्ञान भी परत: होता है । प्रारम्भ से

ज्ञान प्रमात्व अप्रमात्व से रहित रूप से ही ज्ञात होता है । उसके प्रामाण्य अप्रामाण्य का निश्चय अन्य ज्ञान के द्वारा होता है । यदि उस ज्ञान के अनुसार प्रवृत्त होने पर सफलता की प्राप्ति होती है तो उसे यथार्थ अन्यथा अयथार्थ कहा जाता है ।

भाट्ट मीमांसक कहते हैं कि यदि प्रत्येक ज्ञान की यथार्थता का निश्चय संवादी ज्ञान की प्राप्ति पूर्वक किया जाय तो संवादी ज्ञान की यथार्थता के निश्चय के लिये अन्य ज्ञानकी आवश्यकता होगी, उसकी यथार्थता के निश्चय के लिये अन्य ज्ञान की, इस प्रकार परतः प्रामाण्यवाद को स्वीकार करने पर अनवस्था दोष आता है । वास्तव में ज्ञान में प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः तथा अप्रामाण्य की उत्पत्ति परतः होती है । ज्ञान के कारण इन्द्रियादि स्वरूपतः यथार्थ ज्ञान को उत्पन्न करती है तथा ज्ञान में अप्रामाण्य की उत्पत्ति कारण दोष-इन्द्रियों में विद्यमान रोगादि दोष पूर्वक होती है जो उनका स्वरूप न होने के कारस उनसे भिन्न हैं । उदाहरण के लिये चक्षु स्वभावतः यथार्थ रूप ज्ञान को उत्पन्न करते हैं तथा रूप ज्ञान में अयथार्थता का कारण तिमिरादि रोग है जो चक्षु का स्वरूप न होने के कारण उससे भिन्न है । इसी प्रकार ज्ञान की यथार्थता का बोध स्वतः ही- उसी ज्ञान के द्वारा ही हो जाता है लेकिन उसकी अयथार्थता का बोध परतः-बाधक ज्ञान की उपलब्धिपूर्वक होता है, "जिसे हमने सर्प समझा था वह वास्तव में रज्जु है" यह बोध रज्जू की उपलब्धिपूर्वक होता है ।

जैन दार्शनिक कहते हैं कि ऐन्द्रियिक ज्ञान में यथार्थता अयथार्थता दोनों की उत्पत्ति परतः होती है ।[1] इन्द्रियादि सामान्य ज्ञान सामान्य की उत्पत्ति के कारण है इनके द्वारा ज्ञान में यथार्थत्व अयथार्थत्व विशेषण की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति विशिष्ट कारण पूर्वक होती है ।[2] इन्द्रियादि में विद्यमान गुण ज्ञान में यथार्थत्व विशेषण की तथा दोष अयथार्थत्व विशेषण की उत्पत्ति करते हैं । यह नहीं कहा जा सकता कि गुण इन्द्रियों का स्वरूप तथा दोष उनसे भिन्न

---

1. प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृष्ठ-149
2. वही, पृष्ठ-150

है । गुण और दोष परस्पर परिहार रूप से अवस्थित हैं । गुणों का सद्भाव दोषों का अभाव तथा दोषों का सद्भाव ही गुणों का अभाव है । यदि गुणों को ज्ञान कारणों का स्वरूप कहा जाता है तो दोषों को उनका स्वरूपाभाव कहा जाना चाहिये ।[1] हेतु में साध्य से अविनाभाव रूप गुण का सद्भाव होने पर ही हेतु को सद्हेतु कहा जाता है । इस गुण का अभाव ही हेतु की दोष युक्तता है । यदि अविनाभाव को हेतु का स्वरूप कहाजाय तो अविनाभाव के अभाव को हेतु की स्वरूप रहितता कहा जाना चाहिये ।[2]

यदि गुणों को इन्द्रियादि का स्वरूप माना जाय तथा ज्ञान में प्रामाण्य की उत्पत्ति ज्ञान कारणों से स्वरूपतः होने के कारण स्वतः मानी जाय तो इसीआधार पर अप्रामाण्य की उत्पत्ति को भी स्वतः ही मानना पड़ेगा क्योंकि गुण युक्तता के समान ही दोष युक्तता भी इन्द्रियों का ही स्वरूप होता है । गुण और दोष दोनों ही समान रूप से आगन्तुक अथवा स्वाभाविक होते हैं क्योंकि इन्द्रियों की उत्पत्ति विशेष कारणों से होती है । एकप्रकार के कारण सदोष इन्द्रियों को उत्पन्न करते हैं तथा दूसरे प्रकार के कारण गुण युक्त इन्द्रियों को । गुण और दोष इन्द्रियों का स्वरूप होने के कारण उनसे अभिन्न होते हुए भी संज्ञा, संख्या, लक्षण आदि की अपेक्षा भिन्न हैं । इसलिये ऐन्द्रियिक ज्ञान में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों की उत्पत्ति परतः होती है ।

ज्ञान में यथार्थत्व अयथार्थत्व के ज्ञान को भी सर्वथा स्वतः अथवा सर्वथा परतः नहीं कहा जा सकता । यदि प्रत्येक ज्ञान की यथार्थता का निश्चय अन्य ज्ञान द्वारा ही स्वीकार किया जाय तो इसमें अनवस्था दोष आता है , यदि स्वतः ही स्वीकार किया जाय तो यद्यपि संशय और विपर्यय भी यथार्थ रूपसे ज्ञात होते हैं । यद्यपि एक सामान्य व्यक्ति संशय और अनध्यवसाय के अतिरिक्त प्रत्येक ज्ञान को स्वतः यथार्थ स्वीकार करता है लेकिन कुछ ज्ञानों की भ्रमात्मकता की उपलब्धि एक बुद्धिमान

---

1. वही, पृष्ठ-163
2. वही, पृष्ठ-165

पुरूष को भ्रम से बचने के लिये स्वतः प्रामाण्यवाद का परित्याग कर ज्ञान के परीक्षण पूर्वक उसकी यथार्थता अयथार्थता के निश्चय के लिये प्रेरित करती है । कुछ ज्ञानों की, जिन्हें पूर्व में यथार्थ रूप से जाना गया था, भ्रमात्मकता की सिद्धि के कारण ज्ञान मात्र के प्रति संशयात्मक दृष्टिकोण अपना कर किसी भी ज्ञान की यथार्थता का निश्चय नहीं किया जा सकता । इसलिये जैन दार्शनिक ज्ञान के प्रामाण्य का ज्ञान अभ्यस्त दशा में स्वतः तथा अनभ्यस्त दशा में परतः स्वीकार करते हैं ।[1] प्रामाण्य के समान ही अप्रामाण्य भी अभ्यस्त दशा में स्वतः तथा अनभ्यस्त दशा में परतः ज्ञात होता है ।[2]

हमें अभ्यस्त दशा में ज्ञान के उत्पन्न होने के साथ ही उसकी यथार्थता अयथार्थता का ज्ञान भी स्वतः ही हो जाता है जबकि अनभ्यस्त दशा में वह इन दोनों विशेषताओं से रहित रूप से ज्ञात होता है । अनभ्यस्त दशा में उसकी यथार्थता अयथार्थता का निश्चय अन्य ज्ञान के द्वारा होता है । इस सिद्धांत में अनवस्था दोष नहीं आता क्योंकि ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय जिस अन्य ज्ञान के द्वारा किया जाता है वह अन्य ज्ञान अभ्यस्त दशा जन्य होने के कारण स्वतः प्रामाणिक है । 'अभ्यस्त दशा' का क्या अर्थ है तथा इसे निर्धारित करने वाले कौन-कौन से घटक हैं, इसे जैन आचार्यों ने कहीं स्पष्ट नहीं किया है । इसके अर्थ को स्पष्ट करने के लिये हम आचार्यों द्वारा प्रस्तुत किये गये कुछ दृष्टान्तों का अध्ययन करें । प्रभाचन्द कहते हैं कि जिन बीजादि के प्रति किसान अनभ्यस्त हैं उनकी बीज-अबीजरूपता का निश्चय वह उन्हें गमले आदि में बोकर करता है । तत्पश्चात् उनसे समानजातीय बीजों की शक्ति के प्रति निशंकित होकर उपयोग हेतु अथवा त्याग हेतु प्रवृत्त होता है ।[3] अनन्तवीर्य कहते है, " प्रमाण का कार्य जो अपने

---

1. प्रमेय कमल मार्तण्ड पृष्ठ-149
2. प्रमेय रत्न माला, पृष्ठ-40
3. प्रमेय कमल मार्तण्ड पृष्ठ-167-68

विषय को जानना तथा प्रवृत्ति करना है उसमें क्वचित् किसी अभ्यस्त [परिचित] प्रदेश में पर की अपेक्षा नहीं होती किन्तु अनभ्यस्त [अपरिचित] ऐसे जल और मरीचिका वाले साधारण प्रदेश में जल ज्ञान पर की अपेक्षा से ही यथार्थतः ज्ञात होता है । इसका अनुमान प्रयोग इस प्रकार है - इस स्थान पर जल है क्योंकि यह विशिष्ट आकार का धारक है - यहाँ पर घटचेटिकाओं का समूह है, मेंढकों के टर्राने की आवाज आ रही है, कमलों की सुगंध आ रही है । इन सब कारणों से सिद्ध है कि हमारा जल ज्ञान सत्य है । इस प्रकारस्वतः सिद्ध प्रमाणता वाले अनुमान ज्ञान से और जल द्वारा स्नानपानादि अर्थक्रिया के ज्ञान से पूर्व में ज्ञात हुए जल ज्ञान की सत्यता रूप प्रमाणता कल्पकाल पर्यन्त सिद्ध होती है ।[1]

आचार्य प्रभाचन्द्र ने अनभ्यस्त दशा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये अपरिचित विषय का दृष्टान्त दिया है जो आपत्तिजनक है । इसमें जिसे अनभ्यस्त विषय कहा जा रहा है वास्तव में व्यक्ति को उसका ज्ञान ही नहीं है । किसान जिसे बीज रूप से जान रहा है या तो वह उसकी उत्पादन सामर्थ्य से अपरिचित है अथवा उसके प्रति संशंकित है । दोनों ही स्थितियों में परवर्ती ज्ञान बीज की उत्पादन सामर्थ्य के ज्ञान की यथार्थता का निश्चय करने में असमर्थ है क्योंकि उसकी सत्ता ही नहीं है । परवर्ती ज्ञान या तो उसके प्रति अज्ञान की निवृत्ति करता है या संशय को समाप्त करता है । वास्तव में भ्रम की उत्पत्ति अभ्यस्त विषय के प्रति होती है । जिस पदार्थ को हमने पहले कई बारदेखा है, जिसे हम अच्छी तरह जानते हैं उसी के प्रति भ्रम हो सकता है । जैसे स्थाणु और पुरुष दोनों हमारे लिये सुपरिचित हैं इसलिये हम स्थाणु को पुरुष समझ लेते हैं। इस प्रकार का भ्रम किसी अनभ्यस्त विषय के प्रति नहीं हो सकता ।

अनन्तवीर्य अपने दृष्टान्त में विषय के साथ ही साथ उस प्रदेश को भी अभ्यस्त दशा के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं जिसमें विषय जाना जा रहा है । यहाँ परिचित प्रदेश

---

1. प्रमेय रत्न माला पृष्ठ-38

से आशय स्थान विशेष का पूर्वज्ञान होना मात्र न होकर एक प्रकार के स्थान की विशेष संरचना का ज्ञान है । रेगिस्तानमें जल का भ्रम जल की परिचितता तथा रेगिस्तान के विशिष्ट स्वरूप से अपरिचय के कारण होता है । इस स्थिति में जलज्ञान के अनभ्यस्त दशा जन्य होने के कारण उसकी यथार्थता परतः ज्ञात होती है तथा उस स्थान विशेष पर पुनः जल का प्रत्यक्ष होने परउसकी अयथार्थता उस ज्ञान के अभ्यस्त दशा जन्य होने के कारण स्वतः ज्ञात हो जाती है । इसी प्रकार किसी उद्यान, पर्वत आदि में जल ज्ञान की यथार्थता स्वतः ज्ञात हो जाती है क्योंकि वह अभ्यस्त प्रदेश, ऐसे प्रदेश जिसके बारे में हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि यहाँ जलाभाव में जल की प्रतीति नहीं हो सकती, में उत्पन्न हुई है । इसके विपरीत किसी नवीन रेगिस्तानी प्रदेश में इसकी यथार्थता परतः निश्चित होती है क्योंकि वह अनभ्यस्त प्रदेश है- वहाँ जल के सद्भाव और अभाव दोनों में जल का प्रत्यक्ष हो सकता है तथा हम उसकी विशेष स्थिति को नहीं जानते ।

यद्यपि कहीं कहीं प्रदेश की अनभ्यस्तता भी भ्रम का कारण बनती है लेकिन अधिकांशतः भ्रम की उत्पत्ति का कारण विषय या स्थान से अपरिचितता न होकर ज्ञानोत्पत्ति की विशेष स्थितियाँ हैं । रज्जू में सर्प की प्रतीति अभ्यस्त विषय के अभ्यस्त प्रदेश में स्थित होने पर ही होती है । इसकी उत्पत्ति का कारण है-रज्जू और सर्प में समान रूप से पाये जाने वाले धर्मों का प्रत्यक्ष होना तथा रज्जू को सर्प से पृथक करने वाले विशेष धर्मों का प्रत्यक्ष नहीं होना जो इन्द्रियों की दोषयुक्तता, विषय का अत्यधिक दूरी पर स्थित होना, समुचित प्रकाश का अभाव, उदासीनता पूर्वक प्रत्यक्ष आदि कारणों से होता है । इस प्रकार भ्रम का एक प्रमुख कारण ज्ञानोत्पत्ति की स्थितियाँ हैं ।

अभ्यस्त दशा के अन्तर्गत परिचित विषय, परिचित स्थान के साथ ही साथ ज्ञानोपत्ति की परिचित स्थितियाँ भी आती हैं । जिन स्थितियों में किसी ज्ञान की उत्पत्ति हुई, प्रारम्भ में हम उनकी भ्रमोत्पादन सामर्थ्य से अपरिचित होते हैं ।

ऐसी स्थिति में उस ज्ञान की अयथार्थता परतः-बाधक ज्ञान की उपलब्धि पूर्वक ज्ञात होती है लेकिन एक बार जिन स्थितियों में विषय का भ्रमात्मक बोध हो चुका है, पुनः उसी प्रकार की स्थितियों में विषय के ज्ञात होने पर हम उसकी यथार्थता के प्रति संशकित हो जाते हैं तथा अन्य ज्ञान द्वारा अर्थात् अधिक सावधानी पूर्वक विषय का निरीक्षण करके अथवा अन्य प्रकार से परीक्षण पूर्वक उसकी यथार्थता अयथार्थता का निश्चय करते हैं ।

दैनिक जीवन में हम देखते हैं कि अभ्यस्त दशा में ज्ञान के प्रामाण्य अप्रामाण्य का निश्चय स्वतः तथा अनभ्यस्त दशा में परतः किया जाना एक सर्वमान्य सिद्धान्त है । कोई भी समझदारव्यक्ति न तो प्रत्येक ज्ञान को यथार्थ स्वीकार करता है और न ही प्रत्येक ज्ञान के प्रति संशयात्मक दृष्टिकोण अपनाता है । व्यक्ति प्रयत्न और भूल की विधि के द्वारा निरन्तर भ्रम और यथार्थ ज्ञान में अंतर करना सीखता है तथा पूर्वानुभवों से प्राप्त प्रशिक्षण के द्वारा किसी ज्ञान की भ्रमात्मकता को स्वतः जानने में दक्ष होता जाता है। एक तिमिर रोग से ग्रस्त रोगी अपनी रूग्णावस्था के ज्ञात होने के कारण अपने द्विचन्द्र ज्ञान में चन्द्र ज्ञान की यथार्थता तथा उसके द्वित्व संख्या के ज्ञान की अयथार्थता को स्वतः जानता है ।

प्रामाण्यवाद सम्बंधी यह सिद्धांत भी भ्रम की समस्या का पूर्णरूपेण समाधाननहीं कर सकता । ज्ञान की यथार्थता के निश्चय का महत्त्व उसके अनुसार प्रवृत्त होकर सफलता प्राप्ति में है । यथार्थ ज्ञान पूर्वक प्रवृत्त होने पर सफलता तथा अयथार्थ ज्ञान पूर्वक असफलता की प्राप्ति होती है । भ्रमात्मक ज्ञान न केवल किसी कार्य में असफलता का कारण बनता है बल्कि वह प्राणघातक भी हो सकता है । अतः ज्ञान के अनुसारप्रवृत्त होने से पूर्व ही इस बात का निश्चय करने की आवश्यकता होती है कि यह ज्ञान यथार्थ है या भ्रमात्मक । प्रामाण्यवाद संबंधी जैन सिद्धांत भी इस आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर पाता । इसका कारण यह है कि ज्ञान की उत्पत्ति के साथ ही यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि यह ज्ञान

अभ्यस्त दशा जन्य है अथवा अनभ्यस्त दशा जन्य । रेगिस्तान में होने वाले जल ज्ञान में जल पूर्व परिचित होता है, हम अच्छी तरह जानते हैं कि इस प्रकार के रूप से युक्त पदार्थ को जल कहा जाता है इसलिये उस समय हम उस ज्ञान को यथार्थ स्वीकार करते हैं । कालान्तर में हमें ज्ञात होता है कि हम रेगिस्तान की जल के भ्रम को उत्पन्न करने वाली विशिष्ट संरचना से अपरिचित थे । रज्जू में सर्प का भ्रम होते समयहमें सर्प ज्ञान यथार्थ लगता है । इसका कारण है कि हमें ज्ञान अभ्यस्त विषय के प्रति अभ्यस्त प्रदेश में हो रहा है लेकिन जब हमें यह बोध होता है कि 'जिसे हम सर्प समझ रहे थे वह वास्तव में रस्सी है" तब हमें यह ज्ञात होता है कि हमें जिन स्थितियों में सर्प ज्ञान हुआ हम उनकी भ्रमोत्पादन सामर्थ्य से अपरिचित थे ।

यदि हम ज्ञानोत्पत्ति की अभ्यस्त दशा के स्वरूप को पूर्णरूपेण निर्धारित कर भी लें तथा ज्ञान के उत्पन्न होने के साथ ही उसे पहचान भी जायें तब भी भ्रम से नहीं बचा जा सकता । रसोई में जिस स्थान पर नमक रखा हुआ रहता है उस स्थान पर सोडा अथवा नमक के सदृश अन्य श्वेत पदार्थ रखा हुआ हो सकता है तथा हम उसे नमक समझ कर उसको काम में ले लेते हैं । यहाँ विषय को अनभ्यस्त नहीं कहा जा सकता । प्रदेश भी सुपरिचित है तथा विषय को जानने की क्रिया भी पूरी सजगता के साथ,समुचित प्रकाश के सद्भाव में, विषय को निकट से देखकर की गयी है । ज्ञान के सभी प्रकार से अभ्यस्त दशा जन्य होने पर भी हमें उसकी अयथार्थता का स्वतः बोध नहीं हो पाता ।

वास्तव में भ्रम का मूल कारण व्यक्ति की ज्ञान शक्ति की मंदता है । जिन बाहरी कारणों से भ्रम उत्पन्न होता है, व्यक्ति उन्हें पहचान सकता है तथा अयथार्थ बोध को यथार्थ समझने की भ्रांति से बच सकता है । जैसे ऐन्द्रियिक ज्ञान

सदैव आंशिक रूप से ही सत्य होता है । चक्षु के द्वारा मेज का प्रत्यक्ष किये जाने पर उसका मेज रूपमें ज्ञान यथार्थ होता है लेकिन उसकी लम्बाई चौड़ाई भिन्न-भिन्न स्थानों से देखने पर भिन्न-भिन्न दिखायी देती है तथा चक्षु द्वारा उसका यथार्थ बोध नहीं हो सकता । व्यक्ति इस बात को जानता है तथा ज्ञान जिस अंश में यथार्थ है उसे उसी अंश में यथार्थ स्वीकार करता है । कुछ सीमा तक भ्रमोत्पादक कारणों, जैसे- रोगादि पर नियंत्रण करके भ्रम की उत्पत्ति को रोका भी जा सकता है । लेकिन कई स्थितियों में व्यक्ति में विषय के वैशिष्ट्य को ग्रहण करने की क्षमता के अभाव के कारण भ्रम की उत्पत्ति होती है । जैसे-नमक और सोडे के श्वेत रंग, आकार आदि में सूक्ष्म अंतर होता है । यदि व्यक्ति में उस अंतर को ग्रहण करने की क्षमता है तो उसे सोडे के प्रत्यक्ष पूर्वक नमक का भ्रम होना सम्भव नहीं है । इस सन्दर्भ में अकलंक का यह कथन दृष्टव्य है, " ज्ञान स्वभावी आत्मास्वरूपतः समस्त वस्तुओं को यथार्थतः जानता है । उसमें भ्रम की उत्पत्ति परतः ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से होती है ।[1] जैसे जैसे भ्रम के कारण ज्ञानावरणीय कर्म समाप्त होते जाते हैं व्यक्ति की विषय ग्रहण सामर्थ्य प्रखर होती जाती है जिसका सद्भाव होने पर तथा भ्रमोत्पादक बाहरी कारणों का अभाव होने पर व्यक्ति पदार्थों को यथावत् ही जानता है ।"

---

1. सिद्धि विनिश्चय स्ववृत्ति 4/2

- सन्दर्भ ग्रन्थ सूची -

1. अपोह सिद्धि : सं. डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डे ; जयपुर : दर्शन प्रतिष्ठान 1971
2. अष्ट शती : अकलंक कृत, अष्ट सहस्त्री में गर्भित
3. अष्ट सहस्त्री : ~~कोल्हापुर, सहारनपुर~~ सं. पं. बंशीधर शास्त्री : निर्णय सागर प्रेस 1915
4. आप्त परीक्षा : सं. डॉ. दरबारी लाल कोठिया ; सहारनपुर : वीर सेवा मन्दिर 1949
5. आप्त मीमांसा : सं. प्रो. उदय चन्द्र जैन ; काशी : श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान 1974
6. गोम्मट सार : कर्मकाण्ड : सं. डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये तथा कैलाश चन्द्र शास्त्री ; दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण
7. गोम्मट सार जीवकाण्ड भाग - 2 : सं. डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये तथा कैलाश चन्द्र शास्त्री ; दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, 1979
8. छान्दोग्य उपनिषद : (शांकर भाष्य सहित) प्र. गीता प्रेस, गोरखपुर
9. जैन लक्षणावली : सं बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ; दिल्ली : वीर सेवा मन्दिर 1979
10. तर्क भाषा : सं. बदरी नाथ शुक्ल ; दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 1976
11. तत्व संग्रह पंजिका : सं. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री ; वाराणसी बौद्ध भारती ग्रन्थमाला
12. तत्वार्थ सूत्र : उमास्वामी कृत तत्वार्थ वार्तिक के अंतर्गत
13. तत्वार्थ वृत्ति : सं. महेन्द्र कुमार जैन , काशी : भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण
14. तत्वार्थ वार्तिक भाग-1 और 2 : सं. पं. महेन्द्र कुमार जैन, काशी : भारतीय ज्ञानपीठ 1944, 1957

15. तत्वार्थ श्लोक वार्तिक (संस्कृत) : सं. प. मनोहरलाल शास्त्री निर्णय सागर प्रेस, 1918

16. तत्वार्थ श्लोक वार्तिक (हिन्दी अनुवाद) : सं. पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, शोलापुर आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, 1949

17. धवला पुस्तक 6 : सं. हीरालाल जैन, प्र. श्रीमन्त सेठ
पुस्तक 13 : शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र, जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, अमरावती, भेलसा, प्रथम संस्करण

18. नन्दी सूत्र : देववाचक कृत, हरिभद्र सूरि वृत्ति के साथ प्रकाशित

19. नन्दी सूत्र मलयगिरी टीका : प्र. राय धनपति सिंह बहादुर आगम संग्रह ; प्रथम संस्करण

20. नन्दी सूत्र हरिभद्र सूरि वृत्ति : सं. मुनि श्री पुण्यविजय जी, वाराणसी : प्राकृत टेक्स्ट सीरिज, 1966

21. नियम सार : कुन्दकुन्दाचार्य कृत, बम्बई : श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, 1960

22. न्याय कन्दली : सं. अ. पं. दुर्गाधर झा, वाराणसी : सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1977

23. न्याय कुमुद चन्द्र भाग - 1 तथा 2 : सं. पं. महेन्द्र कुमार शास्त्री, बम्बई माणिक्य चन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, 1938 तथा 1941

24. न्याय कोष : भीमाचार्य कृत

25. न्याय दीपिका : सं. पं. दरबारी लाल कोठिया, दिल्ली : वीर सेवा मन्दिर, 1968

26. न्याय बिन्दु टीका : सं. डॉ. श्रीनिवास शास्त्री, मेरठ : साहित्य भण्डार, 1975

27. न्याय विनिश्चय : अकलंक कृत देखें न्याय विनिश्चय विवरण

28. न्याय विनिश्चय विवरण : भाग 1 तथा 2 : सं. पं. महेन्द्र कुमार शास्त्री, काशी : भारतीय ज्ञानपीठ 1949, 1954

29. न्याय सिद्धान्त मुक्तावली : अ. डॉ. धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री, दिल्ली : मोतीलाल बनारसी दास, 1977

30. न्यायावतार : सं. पं. विजयमूर्ति शास्त्राचार्य, अगास (गुजरात) श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, 1976

31. पंच संग्रह : सं. पं. हीरालाल जैन, काशी : भारतीय ज्ञानपीठ, 1960

32. पंचास्तिकाय संग्रह : हिन्दी अ. मगन लाल जैन, भावनगर : श्री वतिराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, वीर निर्माण सं. 2501

33. परीक्षा मुख सूत्र : देखें प्रमेय रत्न माला

34. पुरुषार्थ सिद्धि उपाय : अ. श्री गम्भीर चन्द्र जैन, सोनगढ : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट वि. सं. 2035

35. प्रमाण मीमांसा : सं. पं. सुखलाल सिंघवी आदि, अहमदाबाद सिंघी जैन ग्रन्थमाला

36. प्रमाण वार्तिक (मनोरथ नंदी वृति सहित) : सं. पं. द्वारिका दास शास्त्री, वाराणसी : बौद्ध भारती ग्रन्थमाला, 1968

37. प्रमाण वार्तिकालंकार : सं राहुल सांस्कृत्यायन, पटना : काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इंस्टीट्यूट, 1953

38. प्रमेय कमल मार्तण्ड : सं. पं. महेन्द्र कुमार शास्त्री, बम्बई : निर्णय सागर प्रेस, 1941

39. प्रमेय रत्न माला : सं॰ पं॰ हीरालाल शास्त्री, काशी : चौखम्बा प्रकाशन, 1964

40. प्रवचन सार : कुन्दकुन्दाचार्य कृत सोनगढ़ (गुजरात) श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, 1964

41. वृहत् द्रव्य संग्रह : ले. ब्रह्म देव, भावनगर : श्री बीतराग सत् साहित्य मण्डल

42. वृहती (पंजिका सहित) : प्रभाकर कृत, मद्रास : मद्रास यूनिवर्सिटी प्रेस, 1929

43. वृहदारण्यक उपनिषद् : (शांकर भाष्य सहित) प्र. गीता प्रेस, गोरखपुर

44. व्योमवती टीका (प्रशास्तपाद भाष्य पर) : व्योमशिखाचार्य कृत, काशी : चौखम्बा संस्कृत सीरिज, 1925

45. वाक्य पदीय (खण्ड - II) : सं॰ के॰ए॰ सुब्रमण्य अय्यर, पुना : दक्कन कालेज, 1966

46. विशेषावश्यक भाष्य : सं. डा॰ नथमल टाटिया, वैशाली (बिहार) : अहिंसा, प्राकृत तथा जैन शोध संस्थान

47. वैशेषिक सूत्र (वैशेषिक सूत्र उपस्कार सहित प्रकाशित) : कणाद कृत, व्याख्याकार दुण्डिराज शास्त्री, वाराणसी चौखम्बा संस्कृत संस्थान, प्रथम संस्करण

48. लघीयस्त्रय (स्ववृत्ति सहित) : अकलंक कृत, न्याय कुमुद चन्द्र के अंतर्गत प्रकाशित

49. शावर भाष्य : शवर स्वामी कृत, वृहती के साथ प्रकाशित

50. श्लोक वार्तिक : सं॰ पं॰ दुर्गाधर झा, दरभंगा : कामेश्वर प्रसाद सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, 1979

51. षट् दर्शन समुच्चय : सं. डॉ. महेन्द्र कुमार जैन, दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ 1981

52. समयसार : कुन्दकुन्दाचार्य कृत, बम्बई : श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षू मण्डल, 1962

53. सर्व दर्शन संग्रह : अ. डॉ उमाशंकर शर्मा "ऋषि" वाराणसी : चौखम्बा प्रकाशन, 1978

54. सर्वार्थ सिद्धि : सं. पं. फूलचन्द्र शास्त्री , काशी : भारतीय ज्ञानपीठ, 1944

55. सांख्य तत्व कौमुदी : सं. रामशंकर भट्टाचार्य, दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 1976

56. सिद्धि विनिश्चय : अकलंक कृत, सिद्धि विनिश्चय टीका सहित प्रकाशित

57. सिद्धि विनिश्चय टीका भाग 1 तथा 2 : सं. महेन्द्र कुमार जैन, काशी : भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण,

58. स्थानांग सूत्र-अभयदेव सूरि वृति : प्र. आगमोदय समिति, महसाना, वि.स. 1975

59. स्वयंभू स्त्रोत : सं. जुगल किशोर मुख्तार, सहारनपुर : वीर सेवा मन्दिर, 1951

60. स्याद्वाद मंजरी : सं. डॉ. जगदीश चन्द्र जैन, अगास : श्रीमद राजचन्द्र आश्रम,

61. Bhatt G.P. : Epistemology of the Bhatta School of Purva Mimansa, Varanasi : The Chowkhamba Sanskrit Series Office, 1962.

62. Jha, G.N. : The Prabhakara School of Purva Mimansa Delhi : Motilal Banarsidass 1978.

63. Murti, T.R.V. : The Central Philosophy of Buddhism London : George Allen and Unwin, 1960.

64. Stcherbatrky, F.Th : Buddhist Logic Vd. I. New York : Dover Publications, Inc. 1962.

65. Munn N.K. : Psycology. Indian Edition 1967 Oxford & IBH Publishing Company, Calcutta.

--